१२ बारहवां पुष्प

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला

द्वादशवाँ पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्री भागवतानुसार अध्याय ७८ से ८४
श्री सुबोधिन्यानुसार अध्याय ७५ से ८१
सात्त्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण अध्याय १ से ७

श्री भागवत प्रतिपद मणिवर भावांशु भूषिता मूर्तिः ।
श्री वल्लभाभिधानस्तनोतु निजदास सौभाग्यम् ॥
—श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण

सहायक ग्रन्थ

टिप्पणी	—	**श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण**
प्रकाश	—	**गो. श्री पुरुषोत्तमजी महाराज**
लेख	—	**गो. श्री वल्लभजी महाराज**
योजना	—	**प.भ. श्री लालू (बालकृष्ण) भट्टजी**
कारिकार्थ	—	**श्री निर्भयरामजी भट्ट**

हिन्दी अनुवादक
गो.वा. पं. फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री, विद्याभूषण
जोधपुर

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल
मानधना भवन, चौपासनी मार्ग
जोधपुर (राजस्थान)

प्रथम आवृत्ति—१०००
दोलोत्सव
वि०सं० २०३१
गुरुवार—
दि. २७ मार्च, १९७५

सादर भेंट
संस्था सदस्यों को

मुख्य संरक्षक

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज	नाथद्वारा (राज.)
गोस्वामी श्री व्रजरत्नलालजी महाराज	सूरत
गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज	कांकरोली
गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज	कोटा
गोस्वामी श्री गोविन्दरायजी महाराज	पोरबन्दर
गोस्वामी श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज	जतीपुरा
गोस्वामी श्री व्रजरायजी महाराज	राजनगर (अहमदाबाद)
गोस्वामी श्री घनश्यामलालजी महाराज	कामवन
गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज	चौपासनी (जोधपुर), जामनगर

विशिष्ट आजीवन मुख्य सदस्य

गो०वा० श्री नन्दलालजी मानधना	जोधपुर	रु० ५०००)
गो०वा० श्रीमती सौभाग्यवती नन्दलालजी मानधना	जोधपुर	रु० ५०००)
श्री हरिलाल हरिवल्लभदास धर्मादा ट्रस्ट	अहमदाबाद	रु० ५०००)
गो०वा० श्री जमुनादासजी मून्धड़ा व उनके सुपुत्रगण	बीकानेर	रु० ३५००)
प०भ० श्री गिरधरदासजी मून्धड़ा व उनके सुपुत्रगण	बीकानेर	रु० ३५००)
श्री बालाभाई दामोदरदास ट्रस्ट द्वारा गो०वा० सेठ साकरलाल बालाभाई	अहमदाबाद	रु० १५००)

विशिष्ट आजीवन सदस्य महानुभाव— प्रत्येक से रु० १००१)०० की सेवा प्राप्त हुई

प भ भगवानदासजी अग्रवाल	कलकत्ता	श्री रामनारायणजी द्वारा उनके सुपुत्र श्री नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) एवं श्री ओंकारलालजी वर्मा प्रभृति	जोधपुर
गो.वा. ईश्वरलालजी चिमनलालजी	बड़ौदा		
श्री वल्लभदासजी राठी	अमरावती		
श्री व्रजमोहनदासजी विजय	शुजालपुर मण्डी	स्व. श्री मुकन्ददासजी एवं उनके सुपुत्र श्री रामेश्वरदासजी तापड़िया	(जोधपुर
श्रीमती बेला बेन चत्रभुजदासजी	बम्बई		
श्रीमती काशी बाई	बम्बई	प.भ. श्रीमती रामी बाई अग्र०	ग्वालियर
श्रीमती गङ्गा बेन मजीठिया	बम्बई	श्री सिराज चेरिटेबल ट्रस्ट द्वारा प.भ. श्री गुलाबचन्दजी सिराज	बम्बई
श्रीमती रम्भा बेन विट्ठलदासजी	बीकानेर		
श्रीमती लक्ष्मी बाई गाँधी	बीकानेर	गो वा. हरगोविन्ददासजी अगरचन्दजी भगत वसाई डाबला वालों की स्मृति में उनके सुपुत्र एवं चुन्नी बेन ह.अ.चे. ट्रस्ट	बम्बई
श्रीमती प्रेमा बाई किशनचन्दजी	कानपुर		
श्री दादुभाई अमीन	बड़ौदा		
श्री विट्ठलदासजी रुक्मणी बेन	बम्बई		
श्री व्रजदासजी विजिया बेन	इचलकरञ्जी	श्री कुन्दनलालजी अग्रवाल	कलकत्ता
श्री हरिदासजी देवीदासजी माधोजी	बम्बई		

।। श्री हरिः ।।

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला का बारहवाँ पुष्प

सात्त्विक - फल - अवान्तर - प्रकरण

* सामग्री *

दो शब्द — संस्थाध्यक्ष गो. श्री व्रजभूषणलालजी महाराज	....	१
विनम्र निवेदन — श्री नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) प्रधानमन्त्री	....	२
जीवन चरित्र : गोस्वामी श्री वल्लभजी महाराज—लेखकार	....	५
,, प भ. श्री लालू (बालकृष्ण) भट्टजी—योजनाकार	....	६
,, प.भ. श्री निर्भयरामजी भट्ट—कारिकार्थकार	....	८
श्री सुबोधिनी-पुष्पवाटिका में से चुनी हुई सौरभपूर्ण कुछ कलियाँ — प.भ नानुलाल नारायणदास गाँधी	....	९
श्री भागवतार्थ प्रकरण में से सात्त्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण	....	१०
सात्त्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण की भूमिका	....	२५
दशम स्कन्ध की सुबोधिनीजी की महत्त्वपूर्ण पंक्तियों का अर्थ — गो.वा. श्री गोपालदासजी झालानी	....	२७
शुद्धि-पत्र	....	३०

श्री सुबोधिन्यानुसार अध्याय	श्रीमद्भागवतानुसार अध्याय	शीर्षक		
७५	७८	दन्तवक्र और विदूरथ का उद्धार तथा बलरामजी के हाथ से सूत-वध	....	१
७६	७९	बल्वल का उद्धार और बलरामजी की तीर्थ-यात्रा	....	२९
७७	८०	श्रीकृष्ण द्वारा सुदामाजी का स्वागत	....	४९
७८	८१	सुदामाजी को ऐश्वर्य की प्राप्ति	....	८७
७९	८२	भगवान् श्रीकृष्ण व बलरामजी से गोपीजन की भेंट	....	११९
८०	८३	भगवान् की पटरानियों के साथ द्रौपदी की बातचीत	....	१५६
८१	८४	श्री वसुदेवजी का यज्ञोत्सव	....	१९३
सात्त्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण की अनुक्रमणिका			....	२४८

चित्र-सूची

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण सुबोधिनी का लेखन कराते हुए	....	१
दन्तवक्र का उद्धार	....	७
सुदामाजी की पूजा	....	६७

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजि०)

जोधपुर

उद्देश्य :—

जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के ग्रन्थों का राष्ट्रभाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद करवाकर जन-साधारण निमित्त प्रकाशन कराना; संगीतकला, चित्रकला एवं अन्य ललितकलाओं से सम्बन्धित उपलब्ध सामग्रियों का शोध करना।

सदस्यता :—

विशिष्ट आजीवन : रु. १०००)०० व इससे अधिक चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता।
आजीवन : रु. १५०)०० से रु. ९९९)०० तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता।

संस्था के प्रकाशन :—

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध तथा उसकी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित सदस्यों को भेंट।

सम्पूर्ण दशम स्कन्ध के ९० अध्यायों की सुबोधिनी का राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में सरल-सुबोध अनुवाद १३ पुष्पों में छप गया है—जिसमें से द्वादशवाँ पुष्प प्रस्तुत ग्रंथ है। १३वाँ पुष्प भी लगभग तैयार है—जो जिल्द बन्धकर आने पर प्राप्त हो सकेगा। सब ही पुष्प सचित्र हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस ही अध्याय की लीला के अष्ट-सखा महानुभावों के पदों से सुशोभित एवं मनमोहक हैं।

हिमालय प्रिण्टर्स, कुम्हारिया कुआ, जोधपुर

॥ श्री हरिः ॥

दो शब्द

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध के सुबोधिन्यानुसार ७५ से ८१ अध्यायों की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का सात्त्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण हिन्दी अनुवाद सहित श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला का द्वादशवाँ पुष्प प्रस्तुत ग्रन्थ है।

इस सात्त्विक-फल-उपप्रकरण में भगवान् श्रीकृष्ण ने विविध लीलाओं द्वारा सात्त्विक भक्तों के दोष (दुःख) निवारण किए व स्वयं फल रूप होकर उन्हें प्राप्त हुए। शङ्कर-भक्त शाल्व, निज-भक्त दन्तवक्र एवं उसके भाई विदुरथ—जिनकी दुष्ट वृत्ति थी, उनको नष्ट कर सात्त्विक भक्तों (यादवों) का दुःख हरण किया, जिससे उन लोगों का भगवान् में निरोध सिद्ध हुआ। दूसरे सात्त्विक भक्त पाण्डव थे, परन्तु इनके विपक्ष में बलदेवजी थे, जो कौरवों के पक्ष में थे; इसलिए महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व ही वे (बलदेवजी) तीर्थाटन को चले गए, जिसमें पाण्डवों का हित हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों के पक्ष में थे; अतः उनकी विजय हुई और इस प्रकार उनका भी निरोध भगवान् (श्रीकृष्ण) मे सिद्ध हुआ। सुदामा ब्राह्मण—जो भगवान् का सखा एवं भक्त था, बहुत दरिद्रो था, तथापि भगवान् के पास इस स्थिति को मिटाने के लिए कभी नहीं गया—स्त्री के बहुत कहने पर गया; इसलिए भगवान् ने उसे अलौकिक धन दिया एवं उसकी भक्तिभावना में हानि न होने दी। इस प्रकार उसको लौकिक सुख देते हुए भी उसका परलोक नहीं बिगड़ने दिया। यह पुष्टिमार्ग का एक उदाहरण है। जिसमें दयार्णव प्रभु अपने पुष्टिभक्तों को सब प्रकार का लौकिक सुख देते हुए भी उनकी उस सुख में आसक्ति नहीं होने देते है और उनकी चित्तवृत्ति अपने चरण-कमलों में ही रखते हैं। पुष्टि(अनुग्रह)मार्ग तथा मर्यादामार्ग में यह महत्त्वपूर्ण भेद है कि मर्यादामार्ग में 'विधि' प्रधान है। अतः उसका फल भी सीमित होता है—इतना ही नहीं, विधि में न्यूनता होने से विपरीत फल की सम्भावना भी होती है, परन्तु अनुग्रहमार्ग में विधि या साधन का स्थान गोण होता है और भगवदनुग्रह (कृपा) का महत्त्व होने से फल में असीमता होती है। उपरोक्त तीनों उदाहरणों से यह स्वयं सिद्ध है कि यादवों पाण्डवों एवं निर्धन सुदामा पर की गई कृपा की तुलना में उनका साधन कितना था—नगण्य। फिर भी प्रभु ने अपने प्रमेय बल से उनके सङ्कटों का निवारण कर उनको सर्व लौकिक-अलौकिक सुख प्रदान किए। सब साधन कर उनमें तनिक भी आसक्ति न रखते हुए कृपासागर श्रीकृष्ण भगवान् की कृपा को ही अवलम्बन मानना ही पुष्टिमार्गीय पथिक (भक्त) का मुख्य कर्त्तव्य है। अतः हमको अपने आत्म कल्याणार्थ सदा भगवत्सेवा, स्मरण, गुणगान, कथा, वार्ता में चित्त-प्रवण करना चाहिए, जिससे इस लोक एवं परलोक में सदानन्द की प्राप्ति हो। सदस्य वृन्द ने इस संस्था की आर्थिक सेवा कर कार्य-सञ्चालन में जो सहयोग दिया है, उसका अभिनन्दन करते हुए उनसे मेरा विनम्र कथन है कि वे ग्रन्थ-अध्ययन नियमपूर्वक अवश्य कर, जिससे श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के श्री भागवत-पियूष समुद्र का आनन्दानुभव उनको प्राप्त हो।

किमधिकम् सुज्ञे!

जोधपुर—
वसन्त पञ्चमी—वि०सं० २०३१
रविवार—१६ फरवरी, १९७५

गो० व्रजभूषणलाल

॥ श्री हरिः ॥

विनम्र निवेदन

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला का १२वां पुष्प प्रस्तुत ग्रन्थ देश में कागज़ के अभाव से अब लगभग सवा वर्ष के पश्चात् सदस्य महानुभावों के समीप पहुंचेगा, तथापि उनमें से किसी सदस्य ने आगामी पुष्प की मांग नहीं की, इससे हम उन महानुभावों की सहिष्णुता एवं परमोदरता के लिए उन्हें सादर हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका अतिशय गम्भीर भावपूर्ण है, और उसका भावार्थ निकालना कठिन होने के कारण श्री मद्विट्ठलेश प्रभु ने 'टिप्पणी' गोस्वामी श्री वल्लभजी महाराज ने 'लेख', गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने 'प्रकाश', प० भ० लालू भट्टजी ने 'योजना' एवं प० भ० निर्भयरामजी भट्ट ने 'कारिकाओ' के अर्थ लिखकर इस अलौकिक अनुपम ग्रन्थ के भावार्थ को समझाने का सफल प्रयत्न करते हुए पाठकवृन्द का परम उपकार किया है। इन महानुभावों के दिव्य जीवन का संक्षिप्त विवरण हमारे अनुवाद ग्रन्थों में आवश्यक जानकर श्री मद्विट्ठलेश प्रभु चरण का जीवन चरित्र दूसरे पुष्प में, गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज का पंचम पुष्प में दिया गया है। गोस्वामी श्रीवल्लभजी महाराज, श्री लालू भट्टजी एवं श्री निर्भयरामजी भट्ट के जीवन चरित्र संबंधी जो सामग्री श्रीमान् पो० कण्ठमणिजी शास्त्री, कांकरोली, श्री जेठालालजी गोवर्धनदासजी शाह, एम० ए० रिटायर्ड प्रिंसिपल, अहमदाबाद से एवं प० भ० श्री लालू भट्टजी का जीवन वृत्त उनके ही वंशज विद्वान एवं कवि श्री बलदेवजी शर्मा 'सत्य' "वेदान्त भूषण" नाथद्वारा वालों से जो प्राप्त हुआ है उसका अन्यत्र समावेश है। लेख को श्री बलदेवजी ने विशेष रूप से तैयार करने में जो बहुत रूचि सहित श्रम लिया है, वह निस्सन्देह अभिनन्दनाय हे। परन्तु खेद है स्थानाभाव के कारण वह लेख अक्षरशः नहीं दिया जा रहा है।

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण के तत्वार्थ दीप निबंध के तृतीय भाग में भागवतार्थ प्रकरण है, जिसमें सम्पूर्ण श्री मद्भागवत महापुराण के बारह स्कन्धों का श्लोक (कारिका) बद्ध संक्षिप्त विवरण है। आप श्री ने उक्त महापुराण के सात प्रकार के अर्थ किए हैं जिसमें से (१) शास्त्रार्थ (२) स्कन्धार्थ (३) प्रकरणार्थ एवं (४) अध्यायार्थ भागवतार्थ प्रकरण में हैं और (५) श्लोकार्थ (६) शब्दार्थ तथा (७) अक्षरार्थ श्री सुबोधिनी टीका में है। श्री सुबोधिनी टीका—प्रथम स्कन्ध (१९ अध्याय) द्वितीय स्कन्ध (१० अध्याय), तृतीय स्कन्ध (३३ अध्याय), दशम स्कन्ध (९० अध्याय, ३ प्रक्षिप्त सहित, एकादश स्कन्ध ४ पूर्ण अध्याय)—कुल १५६ अध्यायों की ही उपलब्ध है। इनमें से दशम स्कन्ध विशालकाय होने के साथ-साथ अधिक महत्वपूर्ण है, जिसके सरल सुबोध अनुवाद के १३ पुष्प १२ पुस्तकों में ९० अध्यायों सहित सम्पूर्ण दशम स्कन्ध का अनुवाद संस्था के ठहराव के अनुसार सदस्यों को भेंट में प्राप्त हो जावेगा।

शेष ६६ अध्यायों में से तृतीय स्कन्ध के २५ अध्याय एवं एकादश स्कन्ध के ४ अध्यायों का गो० वा० पं० फतेहचन्द्रजी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद इस संस्था के पास है। तृतीय स्कन्ध के अन्तिम ८ अध्यायों का हिन्दी अनुवाद कराना शेष है, जिनका अनुवाद कराने के लिए यह संस्था

प्रयत्नशील है। प्रथम एवम् द्वितीय स्कन्धों के कुल २९ अध्यायों का हिन्दी अनुवाद पूज्यपाद गोस्वामी तिलकयत जी महाराज (नाथद्वारा) के पास उपलब्ध है। प्रथम स्कन्ध की सुबोधिनी-गद्य का अनुवाद हो गया है, और भागवतजी के श्लोकों का अनुवाद अब हो रहा है। सम्प्रति यह हिन्दी अनुवाद की स्थिति है।

इस संस्था की स्थापना आध्यात्मिक साहित्य प्रकाशन द्वारा जनता जनार्दन की सेवार्थ हुई है। यह एक चेरिटेबल संस्था होने के कारण साधारण आजीवन सदस्यों से प्राप्त रकम का पंचमांश भाग ग्रहण कर शेष रकम ग्रन्थ प्रकाशन द्वारा सदस्यों को ग्रन्थ के रूप में वापिस दे दी जाती है। यह शासन द्वारा एक पंजीकृत संस्था है और प्रतिवर्ष अपना लेखा आय-व्ययादि चार्टर्ड एकाउंटेंट द्वारा अंकेक्षण कराती है। ग्रन्थ पर लागत मूल्य हो सदस्यों से लिया है। अतः यदि तृतीय एवम् एकादश स्कन्ध के कुल ३७ अध्यायों के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन कराने में जो यह संस्था सक्षम हुई तो सदस्य महानुभावों को निज निर्णय से अवगत करादेगी; क्योंकि कार्यालय में उपयुक्त कार्य-कर्त्ता का अभाव है। योग्य व्यक्ति के मिलने पर ही कार्य सम्पादन की सम्भावना हो सकती है। इसमें भी आर्थिक स्थिति अपना पृथक महत्व रखती है। यदि सदस्य महानुभावों का पूर्ववत् सहयोग मिला तो कार्य तो होना आवश्यक है, सो महाप्रभुजी कृपा करके इस कार्य को पूर्ण करायेंगे।

११वें पुष्प के इसी शीर्षक लेख में निवेदन किया गया था कि कागज़ का अभाव कहीं हमारे भावी प्रकाशन में बाधा उपस्थित न करे, दुर्भाग्यवश हुआ भी ऐसा ही, कागज़ बाज़ार से अदृश्य हो हो गया, उसे प्राप्त करने के लिए स्थान-स्थान पर पूछताछ करने पर भी २८ पाउण्ड का कागज़ हमें नहीं मिला। अतः एक वर्ष तक कार्य स्थगित रहा। अन्त में कलकत्ता में श्रीमान् एच० पी० घानुका साहिब, बंगाल पेपर मिल्स वालों से पत्र-व्यवहार करते-करते अक्टोबर मास, १९७४ में कागज़ प्राप्त हुआ। परन्तु कारणवश मुद्रणालय ने १० जनवरी १९७५ से मुद्रण-कार्य प्रारम्भ किया। महंगाई के कारण लग-भग २६ प्रतिशत उनको मुद्रण के भाव में अधिक देना स्वीकार करना पड़ा, उसके साथ यह शर्त रखी गई कि वे १ माह में २०० पृष्ठ मुद्रण करके देंगे, परन्तु यह वादा भी वे निभाने में असमर्थ रहे। पूर्व में विचार था कि १२वें तथा १३वें पुष्प को एक जिल्द में बंधवा दिया जावे, परन्तु अध्यक्ष महोदय ने भी दो जिल्द बंधवाने के सुझाव की स्वीकृति दी। अतः यह १२वां पुष्प भेज रहे हैं, १३वां पुष्प भी शीघ्र ही प्रेषण किया जावेगा।

जो महानुभाव इस अनुपम साहित्य सेवा में सहयोग दे रहे है उनके परिचय से अध्यक्ष श्री को अवगत कराया जिसे श्रवण कर आपश्री ने अतिशय प्रसन्नता प्रकट करते हुए निम्न आशीर्वादात्मक सन्देश उनको भेजने की आज्ञा प्रदान की।

"हम लोगों का जीवन एक विचित्र ढंग से व्यतीत हो रहा है। जिसकी हमको खबर नहीं पड़ती कि इतने वर्ष कैसे बीत गये, जैसे कपूर धीरे-धीरे उड़ जाता है, ऐसे भयंकर लौकिक झंझावात में जीवन की सौभाग्य घड़ी वही है, जिसमें प्रभु की सेवा, उनके गुणगान (कथा-कीर्तन) हो, तथा "हरि गुरु वैष्णव" की सेवा बने। आप लोगों ने स्वयं सदस्य बनकर वित्तीय सेवा की, तथा श्री सुबोधिनी साहित्य प्रचार निमित्त इस संस्था के सदस्य बनाने एवम् अनेक कठिनाईयों को सहन करते हुए जोधपुर से साहित्य प्राप्त कर सदस्यों तक पहुंचाने की जो निष्काम तनुजा सेवा कर रहे हैं, उसके लिए मै आप लोगों को हृदय से धन्यवाद देता हूं, और हमारे परम प्रेष्ठ श्री गोवर्धनधर

प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि वे कृपा कर आपको अपने चरण कमलों का दृढाश्रय एवम् भक्ति देवें। इस अलौकिक साहित्य के रचयिता श्री मद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी आपको हरि गुरु वैष्णव की निष्काम सेवा करने की उत्कट इच्छा के साथ-साथ क्रिया-शक्ति भी प्रदान करें"।

उपरोक्त आशीर्वादात्मक शुभ-सन्देश परमोल्लास तथा अनन्त बधाई सहित निम्न महानुभावों को प्रेषित किया गया :—

प. भ.	श्री रणछोड़दासजी मूंधड़ा	कलकत्ता	प. भ.	श्री लालजी भाई रामजी भाई,	पोरबंदर
,,	श्री जुगलकिशोरजी वर्मन	,,	,,	डॉ. श्री वी एन. धोलकिया,	जामनगर
,,	श्रीमती चांदबाई बैजनाथजी तापड़िया	,,	,,	श्री हेमराजजी उद्धवजी,	राजकोट
,,	श्री प्रीतमलालजी गोस्वामी,	कानपुर	,,	श्री गोकुलदासजी गग्गुभाई सोनी,	,,
,,	श्री उद्धवदासजी मूंधडा	,,	,,	श्री पुरुषोत्तमदासजी पारीख,	उदयपुर
,,	श्रीमती काशीबाई उद्धवदासजी मूंधड़ा	,,	,,	श्री घनश्यामदासजी गोपालदासजी शाह	पूना
,,	श्रीमती प्रेमीबाई किशनचन्दजी भाटिया	,,	,,	श्री नटवरलालजी हरगोविन्ददासजी शाह	बम्बई
,,	श्री राधेश्यामजी रस्तोगी M A LL B.	लखनऊ	,,	श्री ठाकुरदासजी मलक,	जयपुर
,,	श्री दिलसुखरायजी राठी	दिल्ली	,,	श्री रामनिवासजी हुरकुट,	पिपरिया
,,	श्री ओमप्रकाशजी चोपड़ा	,,	,,	श्री नारायणजी शास्त्री,	नाथद्वारा
,,	श्री ओमप्रकाशजी ग्रोवर	,,	,,	श्री घनश्यामदासजी अग्रवाल,	गोरखपुर
,,	श्रीमती रामीबाई अग्रवाल	ग्वालियर	,,	श्री गिरधारीलालजी अग्रवाल एवम् बन्धुगण,	काशी
,,	श्री जमनादासजी एवं उनके सुपुत्र श्री बालकृष्णदासजी मोहता,	कोटा	,,	श्री कन्हैयालालजी खंडेलवाल,	मनोहर थाना
,,	श्री विट्ठलदासजी नीमा,	इन्दौर	,,	श्री निरंजनदेवजी शर्मा,	मथुरा
,,	श्री बृजमोहनदासजी विजय,	शुजालपुर	,,	श्री मोहनलालजी गोवर्धनदासजी पडिया	नागपुर
,,	श्री मोहनलालजी डागा,	रायपुर	,,	श्रीमती श्यामप्रियाजी (गोटाबाई) मदनमोहनजी पुरोहित,	जोधपुर
,,	श्री वल्लभदासजी राठी	अमरावती			
,,	श्री कुंजबिहारीजी राठी,	आगरा			

श्रीमान् एच०पी० धानुका साहब का आभार यह संस्था सादर स्वीकार करती है कि जिन्होंने आगे के प्रकाशन कार्य के लिए कागज के मूल्यों में यथा शक्य छूट देकर कागज भेजने की व्यवस्था कर इस संस्था के १२वें तथा १३वें पुष्पों का प्रकाशन कराने में अनमोल एवं सराहनीय सहयोग दिया, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

प० भ० श्री नाथजी पुरोहित ने अस्वस्थ होने के कारण जनवरी १९७४ से कार्यालय से अवकाश प्राप्त कर लिया था। दिसम्बर १९७४ से कार्यालय में कोई भी कार्यकर्त्ता नहीं था—सो मुद्रणालय से प्राप्त प्रूफ कापी जांचने की निष्काम सेवा कुछ दिनों तक की, परन्तु उनके नेत्र में मोतिया बिन्द का प्रकोप होने से मैंने उनसे सेवा लेना उचित नहीं समझा; तथापि उनकी सेवा के लिए उन्हें धन्यवाद है। यह सेवक भी जनवरी १९७५ से ही अस्वस्थ है, फिर भी यथा शक्य सेवा प्रभु कृपाकर ले रहे हैं, सो आपकी असीम कृपा है। प्रवर आचार्य चरणों की अनुकम्पा एवं भगवदीय जन के आशीर्वाद से यह कार्य पूर्ण होगा—ऐसा दृढ़ विश्वास है!

तदीयजन चरणरजाकांक्षी
नन्ददास (रामचन्द्र)

॥ श्री हरिः ॥

• जीवन चरित्र •

गोस्वामी श्रीवल्लभजी महाराज

श्रीमद्विट्ठलेश प्रभु चरण के पञ्चम पुत्र रत्न श्री रघुनाथजी के सुपुत्र श्री देवकीनन्दनजी, जिनके तृतीय पुत्र श्रीवल्लभजी, जिनके द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलेशजी, जिनके दो पुत्र श्री गिरधरजो व श्रीवल्लभजी हुए। गो० श्रीवल्लभजी का प्रागट्य शुभ तिथि कार्तिक कृष्ण १३, वि०सं० १७२९ के दिन हुआ। श्री गिरधरजी के सुपुत्र श्री द्वारकेशजी का प्रागट्य चत्र शुक्ला २ वि०सं० १७५१ के दिन हुआ। श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के वंशजों में समान नाम के अनेक बालकों का प्रागट्य हुआ है। इन श्रीवल्लभजी महाराज के समकालीन श्रीवल्लभजी महाराज श्री विट्ठलेशरायजी के आत्मज थे, जिनका प्रथम गृह में प्रागट्य वि०सं० १७०३ में हुआ, जो काका वल्लभजो के नाम से प्रसिद्ध हुए; जिन्होंने भी पुष्टिमार्गीय साहित्य की रचना की है. परन्तु श्री सुबोधिनी टीका को सुस्पष्ट करने के लिए 'लेख' के रचक तो श्रीवल्लभजी महाराज पञ्चम गृह के हो थे। इसके लिए पुष्टिमार्गीय निष्णात विद्वन् एवं संशोधक गो०वा० श्री मलचन्द्रजी तुलसीदासजी तेलीवाले ने निम्न प्रमाण प्रस्तुत किए हैं :—

(१) गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने श्रीमद्भागवत १०-४-२० के प्रकाश में 'गो० श्रीवल्लभ' नामक लेखकार के मत का निर्देश किया है, जिससे इस अनुमान को अधिक बल मिलता है; क्योंकि गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने जब-जब अपनी टीका में अन्य पूर्वगामी प्रवर गोस्वामी महाराजों के मतों का उल्लेख किया है, तब-तब सन्मानार्थ उनके लिए बहुवचन का प्रयोग किया है—परन्तु उपरोक्त स्थल में 'श्रीवल्लभ' ऐसे एकवचन ही रखा है। गो० श्री पुरुषोत्तमजो महाराज का प्रागट्य भाद्रपद शुक्ला ११, वि०स० १७२४ के शुभ दिन हुआ था। अतः आप श्री अवस्था में बड़े थे और श्रीवल्लभजी आप श्री के प्रीति-पात्र भी थे. जिनका समर्थन प०भ० श्री निर्भयरायजी भट्ट भो करते हैं।

(२) 'लेख' की जितनी भी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उन सबके अन्त में इति गो० श्री विट्ठलेशात्मज श्रीवल्लभकृत'—ऐसा लिखा हुआ मिलता है।

इसके अतिरिक्त पञ्चम गृह के गो० श्री द्वारकेशजो भावनावाले (आत्मज श्री गिरधरजी) श्रीवल्लभजी के भतीजे थे। उन्होंने षोडश ग्रन्थ के 'नवरत्न ग्रन्थ' की टिप्पणी की पुस्तक में 'अस्मत् पितृव्य चरणानाम् लेख'—ऐसा लिखा है। इन सब आधारों पर यह निश्चय होता है कि सुबोधिनी-जी के लेखकार पञ्चम गृह के श्रीवल्लभजी विट्ठलेशात्मज ही थे। इसका समर्थन श्री नन्दकिशोरजी शास्त्री ने भी किया है।

(३ गो० श्रीवल्लभजी महाराज भगवत्सेवा परायण एवं उच्च कोटि के विद्वान् भी थे। आप श्री वर्ष के तीन भाग करके प्रथम चार मास में श्रीमद्गोकुल अथवा कामवन में विराजकर श्री गोकुलेंदु प्रभु की सेवा में रहते। दूसरे चार मास में कदमखण्डी में निवास कर ग्रन्थ-रचना, विवरणादि पर विचार कर लेखन कार्य करते। अन्त के चार मास में जीवों के उद्धारार्थ एवं पुष्टिमार्गीय प्रचारार्थ प्रवास करते।

ग्रन्थ रचना:— श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित षोडश ग्रन्थ, श्री सुबोधिनीजी एवं समस्त भागवत पर 'लेख' इनकी मुख्य रचनाएँ हैं। षोडश ग्रन्थ के विवरण में भक्तिवर्द्धिनी विवृत्ति और संन्यास निर्णय विवृत्ति; इन दोनों में अन्तिम पुष्पिका में वदनानलदासोक्ता विवृत्तिः पूर्णतामयगात्'—

ऐसा अधिक उल्लेख मिलता है; अन्य में नहीं। आप श्री की प्राप्य रचनाएँ हैं— सिद्धान्त मुक्तावली विवृत्ति प्रकाश, नवरत्न प्रकाश टिप्पणी, भक्तिवर्द्धिनी विवृत्ति, संन्यास निर्णय विवृत्ति. निरोध लक्षण विवृत्ति और सेवा फल टीका'। अप्राप्य ग्रन्थ—'श्री यमुनाष्टक व्याख्या और चतुश्लोकी व्याख्या' हैं। अन्य ग्रंथ—'श्री प्रभु प्रागट्य एवं शुद्ध जन्माष्टमी विचार:' हैं। उत्सव निर्णय ग्रंथ के सम्बन्ध में कुछ सन्देह है कि कदाचित् उस ग्रंथ की रचना गो० श्रीवल्लभजी विट्ठलेशात्मज प्रथम गृह वालों ने की हो, यद्यपि उन्होंने अपने ग्रंथों के अन्त में अधिकतर 'श्रीवल्लभकृत' ही लिखा है।

श्री सुबोधिनी की भाषा सरल होने पर भी भाव गम्भीर है—जिसको सुस्पष्ट करने के लिए श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण ने टिप्पणीजी की रचना की गो० श्रीवल्लभजी महाराज ने श्री सुबोधिनीजी के तथा श्री टिप्पणीजी के भी रहस्यपूर्ण भावों को सरल भाषा में पाठकवृन्द को समझाने का जो सफल प्रयास किया है, वह उपकार अविस्मरणीय है।

परम भगवदीय लालूभट्टजी

श्री पुष्टि पुरुषोत्तम वैश्वानरावतार देवोद्धारक प्रयत्नात्मा भक्तकामना कल्पतरु करुणा वरुणालय अखण्ड भूमण्डलाचार्य जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभ महाप्रभु द्वारा प्रकाशित पल्लवित् पुष्पित फलात्मक पुष्टिमार्ग जिसमें भक्ति-रस से ओत-प्रोत अनेक भक्त, कवि, साहित्यकार, विद्वान् अपनी ज्ञान गरिमा को भूल, प्रभु नन्दराजकुमार की रूप माधुरी में मोहित हो, अपना सर्वस्व खो, श्रीवल्लभ के पादपद्म चञ्चरीक बने।

ऐसा वैष्णव कोई न होगा जो भक्ति भव्य भावना से पूर्ण वेद कल्पवृक्ष के सुन्दर सरस सुलभ परिपक्व फल श्रीमद्भागवत की सर्व टीकाओं की मूर्धन्य सुबोधिनी को न जानता होगा! यदि सुबोधिनी के कुछ स्थल श्रवण तथा मनन किए होंगे, तो योजनाकार वागरोदी लालूभट्टजी का नाम श्रवणगत हुआ ही होगा।

दक्षिण भारत के आन्ध्र प्रान्त के अन्तर्गत कृष्णा नदी के तटवर्ती बागरोदिया ग्राम में वेद–वेदान्त, यज्ञ-यागानुष्ठान दीक्षित समस्त शास्त्र पारङ्गत द्विजवर यज्ञनारायणजी भट्ट निवास करते थे। ऐसा भी सुनने में आया है कि ये महानुभाव उस प्रान्त के उद्भट विद्वान् थे और इनसे शास्त्रार्थ करने में विद्वान् वाक् रुद्ध हो जाते थे। अतः ये वागरोदी नाम से प्रसिद्ध हुए। कुछ भी हो यह निर्विवाद तथ्य है कि ऐसे महान् पुरुष के प्रसाद से वागरोदी वंश अनेक कवियों तथा विद्वानों का अद्यावधि गृह रहा है।

श्री यज्ञनारायणजी भट्ट वागरोदी के पुत्र श्री विश्वनाथजी का जन्म वि०सं० १५४५ में माना जाता है। इनके यहाँ दो पुत्र और एक कन्या ने भी जन्म लिया। ज्येष्ठ पुत्र श्री कृष्णजी का जन्म वि०सं० १५७४ में और रुक्मणीजी कन्या का जन्म वि०सं० १५८० में तथा छोटे पुत्र श्री गोविन्दजी का जन्म वि०सं० १५८४ में माना जाता है। कन्या रुक्मणीजी का विवाह श्रीमद् गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी प्रभुचरण के साथ वि०सं० १५८९ में हुआ। श्रीमती रुक्मणी बहुजी से छः पुत्र रत्न और दो बेटीजी प्रकट हुए। श्री गोविन्दजी अपनी बड़ी बहिन रुक्मणीजी के पास गोकुल में ही रहते थे।

ज्येष्ठ भ्राता श्री कृष्णजी के पुत्र गोपीकान्तजी, उनके पुत्र मधुसूदनजी और उनके पुत्र श्री त्रिविक्रमजी (टीकमलालजी हुए—जिनका जन्म वि०सं० १६४५ में माना जाता है। इनकी पत्नी

श्रीमती शारदा की कोख से चैत्र शुक्ला ९, वि०सं० १६६५ के दिवस श्रीमद् गोकुल में योजनाकार लालूभट्टजी का जन्म हुआ। श्री त्रिविक्रमजी ने पुत्र जन्म की बधाई पूज्यपाद गोस्वामी श्री हरिराय महाप्रभु को दी। आप श्री ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि 'बालक उद्भट विद्वान् होएगो'। तत्पश्चात् इस बालक के जाति रित्यानुसार जात कर्म, नाम कर्म संस्कार में भी आप कृपा कर पधारे। यह बालक शरीर में हृष्ट-पुष्ट व सुन्दर था। इसलिए व्रज की रीति के अनुसार इन्हें 'लल्ला, लाला, लालू' घर में सब कहते थे। वि०सं० १६७५ में उपनयन संस्कार के समय ब्रह्म सम्बन्ध की दीक्षा इन्हें पूज्यपाद गोस्वामी हरिराय चरण से प्राप्त करने का सौभाग्य मिला तथा आप श्री ने इनका नाम बालकृष्ण रखा। बाल्यावस्था से प्रभु सेवा तथा ग्रन्थ अध्ययन में इनकी अभिरुचि अधिक थी और दिन-प्रतिदिन उसमें वृद्धि ही होती रही। क्यों न हो! जिस क्षेत्र में बीजारोपण करने वाले पूज्यपाद गोस्वामी श्री हरिराय महाप्रभु जैसे हों, वहाँ फल के फलित होने में कौनसा आश्चर्य हैं? यह होनहार बालक ही लालूभट्टजी। बालकृष्णजी भट्ट। नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनका विवाह गोतम गोत्रीय कान्तिवती नामक कन्या से वि०सं० १६९७ में हुआ। इनके पुत्र श्री रघुनाथजी एवं दो कन्याएँ हुई। प०भ० श्री लालूभट्टजी कोटा (राजस्थान) के निवासी अपने समय के माने हुए विद्वान् थे। आप महाराजा सवाई श्री जयसिंहजी जयपुर द्वारा सम्मानित किए गए थे। जिनका समय वि०सं० १६८८ से १७२८ माना जाता है। उन्हें प्रसन्न करने के लिए ही इन्होंने 'प्रमेय रत्नार्णव' ग्रन्थ की रचना की थी—ऐसा सुनने में आता है। गोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराज के समय में ये विद्यमान थे।

काव्य रचना:— 'षोडश ग्रन्थ, सिद्धान्त मुक्तावली व्याख्या योजना, सिद्धान्त रहस्य विवृत्ति, नवरत्न स्फुट लेख, भक्तिवर्द्धिनी विवृत्ति, सेवा फल विवृत्ति, अणु भाष्य निगूढार्थ प्रकाशिका व्याख्या, सुबोधिनी योजना, निबन्ध योजना एकादश स्कन्ध योजना, सेवा कौमुदी, निर्णयार्णव, प्रमेय रत्नार्णव, विद्वद्-भूषण काव्यम्, ख्याति विवेक, नामलेख:'।

इनके रचित ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इनकी भाषा बडी प्रौढ़ कविता सरस भावपूर्ण और रचना शैली ओजपूर्ण विद्वद्-मान्य है। श्री बालकृष्ण प्रभु जो इनके आराध्य हैं उनका ग्रन्थों के आदि मङ्गलाचरण में लालूभट्टजी ने कई स्थानों में स्मरण किया है। लगभग इन्होंने अपने सभी ग्रन्थों की समाप्ति इस प्रकार की है—'इति श्रीमद् गोवर्धनधर, श्रीवल्लभाचार्यवर, श्री विट्ठलेश्वर-चरणानुचर सेवकेन लालूभट्टोपनाम विदित, दीक्षित बालकृष्णेन विरचिता .. सम्पूर्ण'।

प०भ० श्री लालूभट्टजी वैष्णवराज गिरधरभट्टजी श्रीमद्भागवत पद्यानुवाद की सुधा टीका के रचक की पितृव्य परम्परा में है, जिनका समय वि०सं० १७७० माना जाता है। इस आधार पर लालूभट्टजी का समय वि०सं० १७३० के लगभग आ जाता है। श्री गोकुलचन्द्र कवि केसरी ने अपने 'उत्सवमालिका' नामक ग्रन्थ में 'आश्रेय वंशावलंस श्री बालकृष्ण भट्टात्मज'—ऐसा स्वकीय परिचय दिया है।

प० भ० श्री लालूभट्टजी (श्री बालकृष्णभट्टजी) की वंश परम्परा का गृह अद्यावधि कोटा में स्थित है—जो 'वागरोदी श्यामसुन्दरलालजी मन्दिर' के नाम से प्रसिद्ध है। मन्दिर में श्री नवनीत प्रिय प्रभु विराजते हैं। दूसरे घर जयपुर में 'श्री गिरधरजी का मन्दिर' एवं 'श्री राधाकृष्णजी का मन्दिर' है तथा अलवर में मुन्शीबाग में 'श्री दाऊजी का मन्दिर' है।

वागरोदी बलदेव शर्मा
'सत्य' पुराण वेदान्त शास्त्री कविरत्न
नाथद्वाराव ले—वर्तमान में बीकानेर

परम भगवदीय श्री निर्भयरामजी भट्ट

श्रीमान् भट्टजी नागर ब्राह्मण विसनगर (गुजरात) निवासी के पिता का नाम एवं जन्म सम्वत् अज्ञात है तथापि यह एक निश्चित् वृत्त है कि पूज्यपाद गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज कांकरोलीस्थ (वि०सं० १७६५-१८३३) के ये शिष्य (सेवक) थे, जिसका उल्लेख उन्होंने अणु भाष्य के 'अधिकरण' ग्रन्थ में किया है। श्रीमद्वल्लभवंश कल्प वृक्ष ग्रन्थ की रचना इन्होंने वि०सं० १८४३ में समाप्त की थी, जिसमें 'गुणरत्न दया सिन्धु गोस्वामी श्री व्रजभूषणः स्वीकृतः'—ऐसा उल्लेख किया है। श्री द्वारकाधीश की सेवा में ये मुख्य प्रचारक के रूप में बहुत समय तक रहे तथा विद्या विभागीय श्री सरस्वती ग्रन्थ संग्रहालय को इन्होंने सुव्यवस्थित किया, जिसमें इनके कई हस्तलिखित ग्रन्थ एवं पत्र भी वि०सं० १८५४ तक के विद्यमान हैं। ये धर्मशास्त्र के माने हुए विद्वान् थे। अतः इनसे कई धार्मिक निर्णय माँगे जाते थे।

ग्रन्थ रचनाः— (१) आशौच निर्णय, (२) व्रतोत्सव निर्णय, (३) श्री द्वारकाधीश मङ्गलाष्टकम्, (४) श्रीमद्वल्लभाचार्यवंश कल्प वृक्ष, ५) दशम स्कन्ध की श्री सुबोधिनी कारिकार्थ, (६) अणु भाष्य—अधिकरण संग्रह इत्यादि।

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'अणु भाष्य' की रचना की, जिसका तात्पर्य समझाने के लिए श्री भट्टजी ने अधिक सुगम व सरल शैली में 'अधिकरण संग्रह' को रचकर शुद्धाद्वैत तत्त्व ज्ञान के अध्ययनार्थ अद्वितीय सेवा कर निज अप्रतिम वैष्णवत्व की विद्वद् वर्ग में प्रतीति कराई। इनका साम्प्रदायिक साहित्य अध्ययन अनुपम था—ऐसे शास्त्रीय ग्रन्थ जिनका समझना कठिन था, उनके मर्म को प्रकट करने में इनकी प्रतिभा उच्च कोटि की थी। श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्री सुबोधिनी की कारिकाओं (श्लोकों) के गम्भीर निगूढ भाव का विशद् रूप में सरलता, सुगमता एवं असंदिग्धता से इन्होंने ऐसा अर्थ किया है कि पाठक सहज में समझ सकें। इनकी लेखन शैली भी एक कला है, जिसका विशिष्ट स्थान है।

श्री भट्टजी के कोई पुत्र-सन्तति नहीं थी। अतः उन्होंने अपना समस्त साहित्य सम्पत्ति अपने सेव्य प्रभु मदनमोहनजी आदि को अपने शिष्य झालरापाटन निवासी लल्लूजी शिवरामजी को प्रदान कर दिए, जो सम्प्रति उनके वंशज श्री मथुरालालजी शास्त्री के यहाँ विद्यमान हैं।

पू०पा० गो० श्रीवल्लभजी महाराज, प०भ० लालूभट्टजी तथा निर्भयरामजी भट्ट के जीवन वृत्त प्राप्त करने के लिए सम्प्रदाय के कतिपय महानुभावों को निवेदन किया था, परन्तु केवल प०भ० प० कण्ठमणिजी शास्त्री कांकरोली, प०भ० श्री जेठालालजी, गो० शाह एम०ए० रिटायर्ड प्रिंसीपल अहमदाबाद एवं प०भ० श्री बलदेवजी वागरोदी (केवल प०भ० लालूभट्टजी का जीवन वृत्त) ने ही अधिक से अधिक प्राप्य सूचना तुरन्त भेजकर जो निज सम्प्रदाय साहित्य चिकीर्षा प्रमाणित की है, वह निस्सन्देह अभिनन्दनीय है। संस्था आप महानुभावों का हार्दिक आभार सादर स्वीकार करती है।

नन्ददास (रामचन्द्र)

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी-पुष्पवाटिका में से सौरभपूर्ण चुनी हुई कुछ कलियाँ

व्याजेन करणं धर्मो न भवति ॥१०-७५-१८॥	बहाने से किया हुआ (कर्म) धर्म नहीं होता॥
यद्यपि ब्राह्मणानां कृति अन्यथापि भवेत् तथापि वाक् मृषा भवितुं नार्हति ॥१०-७५-३०॥	यद्यपि ब्राह्मणों की कृति अन्यथा हो भी सकती है, किन्तु वाणी झूठी होने योग्य नहीं है॥
सर्वथा अवसादे ईश्वरोपसर्पणं विहितम्। ॥१०-७७-९॥	सर्वथा दुःख की अवस्था में ईश्वर की शरण में जाना ही उचित है॥
धनेनावश्यं मदो भवेत्। मदेन च विस्मृतात्मा मां सुतरामेव न स्मरेत्। ततः स्मरणाभावे सर्वनाशः ॥१०-७८-२०॥	धन से अवश्य मद होता है, मद से आत्मा(अपने) को भूलने से मेरा स्मरण नहीं होता। पीछे विस्मरण होने से सर्वनाश होता है॥
स (भगवान्) हि महानुभावः तत्सेवकसेवकेष्वपि न संसारादि धर्मा भवन्तीति ॥१०-७८-३६॥	वे (भगवान्) इतने बड़े प्रभावशाली हैं (कि), उनके सेवकों के सेवकों में भी संसार आदि के धर्म सम्पन्न नहीं होते॥
दानाभावे स्नानं विफलं स्यात् ॥१०-७९-११॥	तीर्थ में दान न करने से स्नान विफल होता है॥
परस्वेति असद्बुद्धिः सतां कदापि न भवति। ॥१०-७९-३९॥	सन्तों को 'अपनी'-परायी'—ऐसी असद्बुद्धि कोई भी समय में नहीं होती है॥
स एव सख्यं प्राप्नोति यस्य जन्म प्रभृति जन्मान्तरेषु वा भगवत्येव चित्तं भवति ।१०-८०-१७।	जिसका जन्म से आरम्भ होकर अथवा दूसरे जन्मों में भी भगवान् में चित्त होवे, वही सख्य प्राप्त करता है॥

'श्री सुबोध रत्नाकर'
योजक—प.भ. नानुलाल नारायणदास गाँधी
एम०ए०, एल०एल०बी०

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित

तत्त्वार्थ-दीप-निबन्ध भागवतार्थ-प्रकरण

दशम स्कन्ध सात्त्विक-फल-प्रकरण

अध्याय ७८ से ८४ तक

कारिका—**आदौ त्रिविधदुष्टानां वधोऽत्र विनिरूप्यते ३६७॥**

शाल्वस्य हरभक्तस्य दन्तवक्त्रस्य चात्मनः ।

तद्भ्रातुश्च द्वितीयस्य राजसस्य वधः स्मृतः ॥३६८ ।

कारिकार्थ—इस प्रकरण में प्रारम्भ में तीन प्रकार के दुष्टों का वध कहा जाता है— (१) महादेव के भक्त शाल्व का, (२) अपने [भगवद्] भक्त दन्तवक्र का और (३) उसके भ्राता राजस [विदूरथ] का ॥३६७-६८॥

व्याख्या—साधन-उपप्रकरण के अनन्तर ५२½ कारिकाओं से फल-उपप्रकरण का विचार करते हैं। कथा का जो श्लेष मिलाप यहाँ देखने में आता है, उसको 'आदौ' इत्यादि कारिका से स्फुट करते हैं। 'आत्मना' पद का तात्पर्य है 'भक्तस्य' (भक्त का) 'राजसस्य' यह उस (दन्तवक्र) के दूसरे भाई का विशेषण है। शाल्व का वध अध्याय ८३-८४ में कहा है। इन अध्यायों को सात्त्विक-फल-प्रकरण में गिना गया है। शेष दन्त वक्र और विदूरथ का वध इस अध्याय में कहा है ॥३६७-६८॥

कारिका—**एवं दोषप्रणाशो हि फले पूर्वमुदीरितः ।**

तेनैव यादवानां हि सर्वव्यसननाशतः ॥३६९॥

कृष्णात्मकं फलं सिद्धं यत एवं करोति हि ।

कारिकार्थ—इसी तरह फल-प्रकरण में पहले दोष नाश का वर्णन है, जिससे ही सकल यादवों के सर्व दुःख नाश हो जाने से उनको श्रीकृष्ण रूप फल प्राप्त हुआ। इसलिए ही भगवान् ने इसी तरह की लीला की ॥३६९½॥

व्याख्या—यादवों को फल की प्राप्ति हो, तदर्थ भगवान् ने तीनों दुष्टों का नाश कर यादवों का दुःख मिटाया ॥३६९½॥

कारिका **ततः सर्वसुखार्थाय बलदेवविनिर्गमः ॥३७०॥**

तीर्थे स्वधर्मनाशाय दोषे याते सुखं स्वतः ।

कारिकार्थ—पश्चात् समस्तों को सुख की प्राप्ति हो, तदर्थ बलदेवजी तीर्थाटन करने गए। साथ में अपने धर्म के नाशार्थ अर्थात् अपने धर्म का त्याग करने के लिए तीर्थों पर गए। दोष जाने पर सुख स्वतः प्राप्त होता है ॥३७०½॥

व्याख्या- श्री बलदेवजी तीर्थ यात्रा करने गए, जिसके प्रयोजन की सङ्गति बताते हैं। युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म हैं। बलराम ने देखा कि पाण्डव और कौरवों का युद्ध होने वाला है, जिसका परिणाम सुन्दर नहीं है तथा श्रीकृष्ण पाण्डवों के पक्ष में है, जो मैं नहीं चाहता हूँ। यदि मैं यहाँ रहूँगा, तो युद्ध में शामिल होना पड़ेगा। श्रीकृष्ण के विरुद्ध कौरवों के पक्ष में जाने से श्रीकृष्ण अप्रसन्न होंगे। अतः अब क्षात्र (वर्णाश्रम) धर्म युद्ध करने का त्याग करने से दोष होगा। अतः तीर्थों पर चलना ही श्रेयस्कर है, यों करने से सबको सुख प्राप्त होगा—सब दोष भी मिट जाएँगे ॥३७०½॥

कारिका— **स्वयं तु पाण्डवानां दुःखनाशं चकार ह ॥३७१॥**

एवं त्रिभिरिहाध्यायैर्दुःखनाशो निरूप्यते ।

स्पष्टास्पष्टविभेदेन त्रिविधानां विशेषतः ॥३७२॥

कारिकार्थ—स्वयं (भगवान्) ने पाण्डवों का दुःख नाश किया। इसी तरह यहाँ इस प्रकरण में तीन अध्यायों से स्पष्ट तथा अस्पष्ट भेद से विशेषकर तीन प्रकार के जीवों का दुःख नाश निरूपण किया है ॥३७१-७२॥

व्याख्या—भगवान् ने दुःखनाश इसी तरह किया, जैसे फिर दुःख उत्पन्न न होवे। तीन अध्यायों से अर्थात् साधन-प्रकरणीय अध्यायों सहित शाल्वादि के नाश से यादवों का दुःख नाश स्पष्ट प्रकार से जानने में आता है और पाण्डव तथा अन्यों का दुःख नाश स्पष्ट जानने में नहीं आता है कि किस प्रकार स्वयं ने दुःख नाश किया ॥३७१-७२॥

कारिका — **कालदोषात्तु ऋषयो वक्तारं मेनिरेऽधमम् ।**

अतोऽज्ञात्वैव रामेण सूतो धर्मार्थमाहृतः ॥३७३॥

सन्तोषार्थमृषीणां च स्वावतारं विधाय हि ।

तत्र तं स्थापयामास कार्यं भागवते स्थितम् ॥३७४॥

शुकोक्तमन्यथा वाक्यं हृदयं न विशेत्क्वचित् ।

कारिकार्थ—ऋषियों ने जो अधम सूत को अपना ब्रह्मपन देकर वक्ता के आसन

पर बिठाया, यह दोष काल का था। श्रीराम ने धर्म-मर्यादा रक्षार्थ सूत का वध किया, फिर ऋषियों के सन्तोष के लिए तथा अपना अवतार होने का कारण विचार, उस आसन पर सूत पुत्र को स्थापित किया। जिसका प्रयोजन यह था कि भागवत सुना जाय, जो यों नहीं करते, तो शुकदेवजी का कहा हुआ वाक्य कभी भी हृदय में प्रविष्ट नहीं होता ।।३७३-७४½।।

व्याख्या—बलभद्र ने तीर्थ यात्रा करते हुए नेमिषारण्य में आकर देखा कि यज्ञ में अधम सूत ऋषियों को उपदेश दे रहा है। यह कार्य धर्म विरूद्ध जानकर सहसा सूत का वध कर दिया। तब ऋषियों ने राम को कहा कि यह वध जो आपने किया है, वह अनुचित किया है कारण कि हमने इसमें अपना ब्राह्मणत्व स्थापन कर इसको यह ब्रह्मासन दिया था। यह सुनकर श्रीराम ने ऋषि सन्तोषार्थ तथा अपने अवतार का प्रयोजन विचार कर सूत पुत्र उग्रश्रवा को ब्रह्मासन देकर कथा प्रारम्भ कराई। यदि बलराम यों न करते, तो उग्रश्रवासर्ज परीक्षित सभा में जाकर शुकदेवजी के मुख से भागवत का श्रवण न कर सकते। जिसका परिणाम यह होता कि भागवत का प्रचार होना बन्द हो जाता, यों साधारण दोष का नाश कहा। अब मुख्य दोष का नाश 'बल्वल' कारिका से कहते हैं ।।३७३-७४½।।

कारिका—**बल्वलस्य वधो मुख्यो दोषस्तेषां च नाशितः ।।३७५।।**
बल्वलो दोषसूतौ च त्रयोऽत्र विनिवारिताः ।
ज्ञानोपदेशो लीलार्थो यथा तीर्थाटनं तथा ।।३७६।।

कारिकार्थ—बल्वल का वध मुख्य है, ऋषियों का दोष नाश हुआ है। (१) बल्वल, (२) ऋषियों का दोष और (३) सूत—इन तीनों का नाश यहाँ कहा है। बलभद्र ने जैसे लीलार्थ तीर्थाटन किया, वैसे ही ऋषियों को ज्ञानोपदेश लीलार्थ किया ।।३७५-७६।।

व्याख्या—बलभद्र ने तीर्थाटन, ऋषियों को ज्ञानोपदेश आदि सर्व लीलार्थ ही किया ।।३७५-७६।।

कारिका—**शुद्धिस्तीर्थैस्तथा यज्ञैर्ज्ञानेनापि भवेद्ध्रुवम् ।**
ऋषीणां त्रितयं सिद्धमग्रे मोहनिवृत्तये ।।३७७।।
ज्ञानोपदेशोऽनन्यार्थो दोषा एवं विनाशिताः ।
द्वाभ्यां पञ्चभिरग्रे तु गुणैर्दोषनिवारणम् ।।३७८।।

कारिकार्थ—तीर्थों, यज्ञों और ज्ञान से भी निश्चय से शुद्धि होती है। आगे मोह की निवृत्ति के लिए ऋषियों को ये तीन ही सिद्ध हैं। तदर्थ बलराम ने ऋषियों को

उपदेश दिया, उस (उपदेश देने) का अन्य कोई प्रयोजन नहीं था। इस (दो अध्यायों में दिए हुए उपदेश) से दोषों को दूर किया है और फिर पाँच अध्यायों से तो गुणों द्वारा दोषों का नाश करेंगे ।।३७७ ७८।।

व्याख्या—दो अध्यायों से पहले में धर्मी लीला कही है और दूसरे में ज्ञान लीला कही है अथवा क्रमानुसार आगे के पाँच अध्यायों से दोष नाश तथा फल के होने का प्रकार समझाया है। तीर्थ, यज्ञ करने से तथा ज्ञान से अन्तःकरणादि की शुद्धि होती है। बलरामजी के उपदेश से इन (ऋषियों) को शुद्धि के तीनों ही साधन प्राप्त हो गए, जिनसे दोष नष्ट हुए। ३७७-७८।।

कारिका—**दारिद्र्यनाशः सम्पत्त्या द्वाभ्यां तत्र निरूप्यते ।**
त्रिभिश्च त्रिविधानां च पूर्वोक्तानां च सर्वशः ।।३७९।।

कारिकार्थ—पाँच अध्यायों में से दो अध्यायों(७७-७८)में सम्पत्ति देकर दरिद्रता नाश की है। शेष तीन अध्यायों (७९-८०-८१) से ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के जीवों के दोष सम्पूर्णतः नाश किए हैं ।।३७९।।

व्याख्या—पाँच अध्यायों से अवान्तर-प्रकरणों का विभाग कहते हैं। 'दारिद्र्य' इत्यादि दो अध्यायों (७७-७८) से सुदामा की दरिद्रता नाश करने के लिए सम्पत्ति देने का वर्णन किया है। तीन अध्यायों (७९-८०-८१) से पूर्व जो त्रिविध तामस, राजस तथा सात्त्विक भक्त कहे हैं, उनका ही सर्व प्रकार से दोष नाशपूर्वक फल कहा है और उसी तरह यहाँ जो द्विप्रकरणी है, उससे सप्ताध्यायों में पूर्व दोनों के साथ त्रिप्रकरणी है ।।३७९।।

कारिका—**सुदामा ब्राह्मणः कश्चिदर्धं च ऋषिसम्मतः ।**
भार्या तु ब्राह्मणी तस्य नर्षी दारिद्र्यदर्शनात् ।।३८०।।
विरुद्धमुभयं कालात्तत्रैकस्य निवारणम् ।

कारिकार्थ—सुदामा नाम वाला कोई ब्राह्मण था, वह आधा ऋषि समान था, उसकी पत्नी दरिद्रता के आभास से ऋषित्व से हीन थी। अतः दोनों समान भाव वाले नहीं थे। काल बल से एक (सुदामा) का ऋषिपन तिरोहित हो गया ।।३८०½।।

व्याख्या—उस ब्राह्मण का नाम 'सुदामा' है, यह अन्य पुराण में कहा है। जिसको आधा ऋषि इसलिए कहा है कि स्वयं तो मैं दरिद्र हूँ, हाय ! मेरे पास धन नहीं है—ऐसे धन के अभाव का प्रभाव नहीं पड़ा था। अतः स्वयं ऋषि था, किन्तु उसकी पत्नी पर दरिद्रता का पूर्ण प्रभाव था, धन के लिए उत्सुक थी। अतः उसमें ऋषिपन नहीं था। पति-पत्नी एक कहा जाता है, स्त्री अर्धाङ्गिनी है। उसमें ऋषित्व होने से ही सुदामा अर्द्ध ऋषि माना गया। योजना को कहते हैं कि सुदामा अर्द्ध ऋषि ग्रामवासी होने से होगा—यों भासता है।

ऋषित्व तथा दरिद्रता का प्रभाव—ये परस्पर विरुद्ध हो गए हैं। काल के प्रभाव से स्त्री के संसर्ग द्वारा सुदामा भी धनार्थी बना, जिससे उसका ऋषित्व तिरोहित हो गया। भगवान् के पास याचन करने के लिए स्त्री के कहने से गया ।।३८०½।।

कारिका—**तत्र कृष्णः पुष्टिमार्गे स्त्रीणां चैव हिते रतः ।।३८१।।**
अतोऽर्धजरतीयं तं भक्तं चक्रे स्वसङ्गिनम् ।

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण ने अनुग्रहमार्ग में स्थित होने से अर्धऋषि तथा अर्धसंसारी भक्त को अपना साथी बना लिया तथा आप स्त्रियों के हित में ही आसक्त हैं ।।३८१½।।

व्याख्या—सुदामा भगवान् का सखा एवं भक्त था तथा ऋषि भी था, किन्तु काल ने ऋषित्व का निवारण किया। यह ही प्रतिबन्ध था, यों होते हुए भी भगवान् ने तो सुदामा का पुष्टि(अनुग्रह) मार्ग में अङ्गीकार किया है और आप स्त्री हितकर्त्ता हैं। सुदामा में अब अर्द्ध जरतीय न्यायानुसार ऋषित्व तथा अऋषित्व दोनों धर्म हैं—ऐसे को अपना बताया ।।३८१½।।

कारिका - **यथा हि भगवानत्र पूर्णकामोऽपि तिष्ठति ।।३८२।।**
तत्सङ्गिभिस्तथैवात्र स्थेयमित्येव निश्चितम् ।

कारिकार्थ—इस लीला से यह निश्चय किया है कि पूर्ण काम भगवान् आप स्वयं जिस प्रकार स्थिति करते हैं, उनके सङ्गियों को भी उसी तरह यहाँ रहना चाहिए ।।३८२½।।

व्याख्या—इस कथानक से यह निश्चित् शिक्षा मिलती है कि पूर्णकाम भगवान् जब भूमि पर अवतार लेकर विराजते हैं, उस समय जिस तरह स्थिति करते हैं, उसी तरह उनके सङ्गी मित्र व भक्त को भी अपनी स्थिति करनी चाहिए ।।३८२½।।

कारिका—**नाशो न कोऽपि भविता ऋषीणां चापि मोचकः ।।३८३।।**
अलौकिकं च प्रददौ न दूषणमिहाण्वपि ।

कारिकार्थ—भगवान् ने सुदामा की पत्नी को अलौकिक धन दिया, जिससे उस (सुदामा) को किसी प्रकार की हानि न होगी कारण कि प्रभु ऋषियों की मुक्ति करने वाले हैं ।।३८३½।।

व्याख्या—मुक्तिकर्त्ता भगवान् ने मुक्ति में बन्धन करने वाला धन इस (सुदामा) को कैसे दिया? जिस शङ्का को मिटाने के लिए यह कारिका कही हैं. जिसमें कहा है कि यह धन सुदामा को न देकर उसकी स्त्री को दिया। अतः सुदामा की कोई हानि नहीं हुई—न सुदामा का ऋषित्व

नष्ट हुआ और न ही परलोक बिगड़ा। कारण कि सुदामा भगवान् के पास वास्तव में धन की प्राप्ति की प्रार्थना करने नहीं गए थे, केवल स्त्री के आग्रह से वहाँ गए। किन्तु अन्तःकरण में भगवद्-दर्शन हो जायेंगे—यह भावना रही थी। भगवान् ने प्रत्यक्ष में वहाँ धन नहीं दिया—इससे प्रसन्न ही हुआ। लौटते समय मार्ग में धन न देने से भगवान् की कृपालुता मानने लगा—आने के बाद वैभव देख उसका उपभोग अनासक्त होकर किया। पत्नी को सन्तुष्ट रखा—यों करने से किसी प्रकार परलोक की भी हानि न हुई ।।३८३½।।

कारिका— **स्वतुल्यत्वाय तु कथा पूर्वं जाता निरूपिता ।।३८४।।**
समक्षं भगवांस्तंतु ऋषिमेवाऽकरोत्स्वतः ।
अतो न किञ्चित्प्रददौ भार्यायै तत्र दत्तवान् ।।३८५।।

कारिकार्थ—सुदामा को अपने समान दिखाने के लिए पहले हुई कथा कही। भगवान् ने उसको प्रत्यक्ष में (सामने) धन नहीं दिया; क्योंकि उसको अपने सामने स्वतः ऋषि ही कर रखा, इसलिए इसको कुछ भी नहीं दिया, परन्तु उसकी पत्नी को घर बैठे सर्व प्रकार की सम्पत्ति दे दी ।।३८४-८५।।

व्याख्या—यह ही लीला बृहदारण्यक में 'अत्रा दो वसुदान' श्रुति द्वारा सुनाई गई है। यदि दोष लेश नहीं, तो फिर 'प्रायो गृहेषु' इत्यादि अनिष्ट का अनुवाद कैसे किया? यों करने का क्या प्रयोजन था? इसका प्रयोजन इस (सुदामा) को अपने समान सिद्ध करने का था। यदि यों हैं, तो समक्ष क्यों नहीं दिया? यदि समक्ष देते, तो सुदामा अप्रसन्न होता। इस प्रकार का उसका स्वभाव जानकर समक्ष नहीं दिया। धन की चाहना स्त्री को थी, इसको नहीं थी, यह धन के लिए नहीं आया था किन्तु दर्शनार्थ आया था, भगवद्दर्शन हो जाने से मनोरथ पूर्ण हो गया जिससे भगवत्समक्ष पूर्ण ऋषि बन गया, धनेच्छा का अत्यन्ताभाव होने से धन नहीं दिया, धन न देकर भगवान् ने अपना और उसका क्या अभिप्राय है, वह प्रकट कर दिखाया, अतः स्त्री को घर बैठे देकर उसकी कामना पूर्ण की ।।३८५।।

कारिका – **अनभिप्रेतपक्षे हि दानाभावो विशिष्यते ।**
अतोऽदाने तस्य तोषो गच्छतो वर्ण्यते पथि ।।३८६।।

कारिकार्थ—लेने वाले की दान लेने की इच्छा न हो, तो दान नहीं देना उत्तम है। इसलिए ही अर्थात् दान न मिलने से सुदामा ने मार्ग में जाते हुए सन्तोष वर्णन किया है ।।३८६।।

व्याख्या—इस ७८वें अध्याय में सुदामा ने भगवान् द्वारा कुछ न मिलने पर सन्तोष प्रकट किया है ।।३८६।।

कारिका—**सांसर्गिकस्य दोषस्य निवृत्त्यै भगवत्परः ।**
भक्तिमार्गानुसारेण विषयान् बुभुजेवशः ।।३८७।।

कारिकार्थ—सुदामा ने अपना चित्त भगवान् में स्थिर कर, विषयों के अधीन न होकर भक्तिमार्गानुसार अनासक्ति से विषय भोग किया, वह भी इसलिए कि सांसर्गिक (संसर्ग से उत्पन्न) दोष मिट जावे ।।३८७।।

व्याख्या—भगवान् ने सुदामा की स्त्री को सर्व प्रकार की सम्पत्ति दान की, क्योंकि वह (पत्नी) उस सम्पत्ति का उपयोग कर आनन्द लेना चाहती थी, यद्यपि सुदामा भोगेच्छु नहीं था तो भी स्त्री के सांसर्गिक दोष की निवृत्ति के लिए अनासक्त हो भगवान् में तत्पर हो के स्त्री की राज-पिपासा पूर्ण करने के लिए विषयों का भोग करने लगा, जिससे ससर्ग दोष का प्रभाव इस पर न पड़ा ।।३८७।

कारिका– **एवमृषित्वं भक्तत्वं धनं दारिद्र्यमेव च ।**
विरुद्धं स्थापयामास स्वकीयत्व प्रसिद्धये ।।३८८।।

कारिकार्थ—भगवान् ने सुदामा में अपनी स्वकीयता प्रसिद्ध करने के लिए ऋषिपन व भक्तपन और धन व दरिद्रता—ये परस्पर विरूद्ध गुण स्थापित किए ।।३८८।।

व्याख्या—सुदामा में अपना भक्तत्व स्थिर करने तथा उसके भक्तपन की प्रसिद्धि हो, तदर्थ भगवान् स्वयं जैसे विरुद्धधर्माश्रयी हैं, वैसे ही अपना भक्त सुदामा भी विरुद्ध-धर्माश्रयो है, यह सिद्ध करने के लिए उसमें ऋषिपन, तथा भक्तपन दोनों विरुद्ध धर्म स्थापित किये हैं तथा धन और दरिद्रता भी परस्पर विरुद्ध धर्म हैं वे भी इसमें स्थापन किये हैं—ऋषिपन भक्तपन की विरुद्धता यह है कि ऋषि वेद को ही, सबसे 'पर' प्रमाण मानते हैं भक्तजन भगवान् को 'पर' मानते हैं, धन जहां है वहां दरिद्रता नहीं, जहां दरिद्रता है वहां धन नहीं है, यह इनकी विरुद्धता स्पष्ट ही है—इसी तरह सुदामा में विरुद्ध धर्म स्थापित कर अपने भक्तपन की प्रसिद्धि की है ।।३८८।

कारिका—**त्रिभिरग्रे तु भगवान् पूर्णं फलमुदीर्यते ।**
द्वाभ्यां द्वाभ्यां त्रिभिश्चैव फलत्रयमुदीरितम् ।।३८९।।
दुःखाभावसुखोत्कर्षौ कृष्णश्च त्रिविधस्तथा ।
सर्वेषां वाञ्छिताकारः स्त्रीणामत्यन्तवल्लभः ।३९०।।
ऋषिदेवपितृकृणां च लौकिकालौकिकत्वतः ।
फलदाता सर्वभावैः सर्वतोऽत्र निरूप्यते ।।३९१।।

कारिकार्थ—इसके आगे ७९-८०-८१ इन तीन अध्यायों से भगवान् ही पूर्ण फल हैं—यों कहा जाता है । दो-दो अध्यायों से और तीन अध्यायों से तीन फल कहे हैं– १. दुःख का अभाव, २. सुख का उत्कर्ष और ३. कृष्ण तीन प्रकार के हैं; यों कहा

है कि (१) श्रीकृष्ण का आकार [स्वरूप] सभी का इच्छित आकार है, (२) स्त्रियों को वह अत्यन्त प्रिय है तथा (३) ऋषि, देव एवं पितृगण सबको लौकिक-अलौकिक सर्व प्रकार से सर्वतः फलदाता है—यों यहाँ निरूपण किया जाता है ।।३८९–९१।।

व्याख्या—यों नवश्लोकों से दोनों का अर्थ कहा अब आगे के तीनों का भावार्थ कहने के लिए उससे सिद्ध हुए फल के स्वरूप को 'त्रिभिः'— — ' तीन कारिकाओं से कहते हैं । —तीन प्रकरणों से सिद्ध फल का ज्ञान सरल रीति से हो इसलिए पहले 'द्वाभ्यां द्वाभ्यां' पदों से समझाया है कि ७५-७६ अध्याय से दुःख नाश रूप फल कहा है और दूसरे दो ७७-७८ अध्याय से सुख रूप उत्तम फल का वर्णन किया है, तथा ७९-८०-८१ तीन अध्यायों से श्री कृष्ण के त्रिविध स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है, पहले ७९ अध्याय में १—श्री कृष्ण का ऐसा सुन्दर स्वरूप है जिस स्वरूप के दर्शन की सकल लोग इच्छा करते हैं, दूसरा स्त्रियों को अत्यन्त वल्लभ (प्रिय) है और तीसरा ऋषिदेव तथा पितर सबको लौकिक अलौकिक प्रकार से सर्वभाव से पूर्ण फल देते हैं इसी तरह श्री कृष्ण के तीन स्वरूप सिद्ध किये हैं ।

वाञ्छित सुन्दर आकार न होता तो उसके दर्शनसे आनन्द प्राप्ति नहीं होती यहां तो 'आसन्न-च्युत सन्दर्श परमानन्दनिवृताः;' उनके दर्शन से परमानन्द मग्न हो गये हैं ।।३८९-९०-९१।।

कारिका—**तत्कालस्थाः सर्व एव वर्णा एते च मानुषाः ।**
सर्वतस्ते समागत्य कृष्णसान्निध्यदर्शनैः ।।३९२।।
शुद्धसात्त्विकभावं ते प्राप्ता रोधनमागताः ।
देहादिकं जगत्सर्वं विस्मृत्य भगवत्पराः ।।३९३।।
जाता इति फलं तेषां हरिरेव न संशयः ।
अन्ते च गोपिकाः प्रोक्ताः शुद्धसत्त्व प्रसिद्धये ।।३९४।।

कारिकार्थ—उस काल में जो ये मनुष्य स्थित थे, वे सब ही वर्ण वाले थे । वे चारों ओर से आकर भगवान् कृष्ण के सान्निध्य को प्राप्त हुए और दर्शन किए, जिससे शुद्ध सात्त्विक भाव को प्राप्त कर निरुद्ध हो गए । इस (निरोध प्राप्त करने के) कारण से सर्व जगत् को भूल गए एवं भगवत्परायण हो गए, यों उनका फल हरि ही है—इसमें संशय नहीं । अध्याय के अन्त में गोपियों के शुद्ध सत्त्व की प्रसिद्धचर्थ गोपिकाओं की कथा कही है ।।३९२–९४।।

व्याख्या—तामस भक्तों को राजस भाव की प्राप्ति हुई यह पहले कहा गया है अब उनका सात्विकपन होने का कहने के लिए अन्त में व्रजस्थों की कथा कही हैं जिसमें उनके शुद्धसत्त्व की प्रसिद्धि की है—शुद्धसत्त्व की प्रसिद्धि इसलिए की है कि—सत्व, ज्ञान उत्पन्न करने वाला है, यदि वह सत्व शुद्ध है तो उससे भगवत्स्वरूप के याथात्म्य का ज्ञान हो जाता है ।।३९४।

कारिका—**निरोधश्चापि तासां हि सर्वभावेन रूपितः ।**
तदन्ताः सर्व एवैत तत्फला इति निश्चितम् ।।३९५।।

कारिकार्थ—उनका ही निरोध सर्व भाव से वर्णन किया गया है,तब तक वे सर्व उपाय जो भी किए जाते हैं, वे साधन हैं। जिनका फल श्रीकृष्ण में निरोध है ।।३९५।।

व्याख्या—स्वरूप से सम्बन्ध हो जाने रूप फल प्राप्ति की अवधि ही निरोध है, यह निरोध गोपियों का सर्वभाव से पहले सिद्ध हुआ है, फिर उनकी कथा कहने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'तदन्ताः' ये सर्व आदि से लेकर ज्ञानोपदेश तक जो भी उपाय है वे सर्व वहां तक ही है, अर्थात् ज्ञान सहित सर्वभाव पूर्वक निरोध रूप फल जब तक न मिला है, तथा पहले सर्व-भाव होते हुए भी एवं परोक्ष उपदेश से परोक्ष ज्ञान होने पर जब तक वह प्रत्यक्ष नहीं होता है तब तक सर्व भाव की दृढ़ता के अभाव के कारण पूर्ण रूप से अच्छी तरह निरोध सिद्धि नहीं क्योंकि, ऐसी दशा में सर्वभाव के अनुभव का अभाव रहता है, इस कथा के कहने से यह निश्चय हो गया है कि गोपियों को सर्व भाव का अनुभव सिद्ध है जिससे पूर्ण निरोध सिद्धि हुई है ।।३९५।।

कारिका—**संसारो भगवांश्चैव विरुद्धं द्वितयं फलम् ।**
उभयैर्यत्सुखं तद्धि तासां पुष्ट्याऽभवत्तदा ।।३९६।।
तथैव प्रार्थितं ताभिः सम्मतं चापि वै हरेः ।

कारिकार्थ—संसार और भगवान् ये दोनों फल परस्पर विरुद्ध हैं, फिर भी दोनों फलों (संसार तथा भगवान्) से जो सुख होता है, वह सुख उन (गोपियों) को प्राप्त हुआ। जिसका कारण भगवान् का अनुग्रह है अर्थात् भगवदनुग्रह से दोनों फल गोपियों ने भोगे। जिसका कारण गोपियों ने दोनों फल की प्राप्ति की प्रार्थना की थी, जिससे भगवान् भी सम्मत हो गए थे।।३९६½।।

व्याख्या—इसी तरह उसका विवेचन कर 'संसार . . . . . हरेः'। तक को १½ कारिका से समझाते हैं कि, संसार तथा भगवान् ये दोनों फल परस्पर विरुद्ध हैं अर्थात जहां संसार होगा वहां भगवान् नहीं होंगे और जहां भगवान् होंगे वहां संसार नहीं होगा किन्तु गोपियों को दोनों (संसार और भगवान्) फल साथ में ही प्राप्त हुए थे कारण कि भगवान् ने अनुग्रह कर ये दोनों फल उनके सिद्ध किए थे क्योंकि उन्होंने ने (गोपियों ने) ऐसी ही प्रार्थना ('आहुश्च ते नलिननाम' श्लोक से यह सिद्ध होता है।) की थी, जिससे हरि भी सम्मत हुए थे। उस समय प्रभु ने सर्वात्मक स्वरूप से अनुग्रह किया था जिससे गोपियां दोनों फल निर्विरोध भोग सकीं ।।३९६-½।।

कारिका—**'न ज्ञानं न च वैराग्यं' यतः प्राह हरिः स्वयम् ।।३९७।।**
'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं' 'ये तु सर्वाणि' चोक्तवान् ।

कारिकार्थ—'ज्ञान' तथा 'वैराग्य' कल्याणकारक नहीं हैं; क्योंकि स्वयं भगवान् ने ऐसा कहा है। व्यक्त स्वरूप श्रीकृष्ण को सर्व कर्म अर्पण कर जो भजते हैं, उनको सर्वोत्तम फल शीघ्र प्राप्त होता है ।।३९७½।।

व्याख्या—भगवान् ने एकादश स्कन्ध में कहा है कि—'जो मेरी कथा में श्रद्धावान है, सर्व-कर्मों से ऊब गया है, जानता है, कि दुःख रूप कामनाएं हैं, फिर भी उनको छोड़ने में असमर्थ है ऐसी अवस्था में दृढ़ निश्चयी हो, भक्ति (प्रेम से निरन्तर मन लगा कर मुझे भजता है— — — उसकी सर्व-कामनाएँ जो भी हृदय में स्थित हैं वे नष्ट हो जाती हैं क्योंकि मैं उसके हृदय में विराज-मान् हो गया हूँ। अखिलों (सब) की आत्मा जो मैं हूं उसका उसने दर्शन कर लिया जिससे उसके हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है, सकल संशय मिट जाते हैं, इसलिये जो मेरी भक्ति से युक्त योगी है मेरे में ही जिसकी आत्मा व अन्तःकरण है उनके लिए ज्ञान या वैराग्य बहुत करके श्रेयस्कर नहीं हैं, कारण कि, आखिलात्मक भगवान् के साक्षात्कार रूप फल को प्राप्ति हो जाने पर साधन रूप ज्ञान तथा वैराग्य का कोई प्रयोजन नहीं रहने से उनको अश्रेयस्कर कहा है अर्थात् वे भक्त के लिए लाभ-दायी नहीं हैं। गीता में भी अव्यक्त की प्राप्ति दुःख से होती है यों कह कर उस फल का अपकर्ष (हीनत्व) सिद्ध कर अपने व्यक्त स्वरूप फल को प्राप्ति का उत्कर्ष एवं सुख साध्य बताया है—अव्यक्त के उपासक भी चक्कर काट अन्त में उत्कृष्ट अंतिम फल जो मैं हूं उसको ही प्राप्त होता (पाता) है ।।३९७-½।।

कारिका—**जीवतश्च स्थितिर्मृग्या तथा वृत्त्यादि सर्वथा ।।३९८।।**
स्वाभाविकं न दुःखाय परत्रेह च निश्चितम् ।

कारिकार्थ—देहधारी को जीते समय अपनी स्थिति किस प्रकार रखनी चाहिए? इसको ढूँढना चाहिए तथा जीने के साधन भी सिद्ध करने चाहिए। इसी तरह जो जीव (देह) धारी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करता है, उसको लोक तथा परलोक में दुःख नहीं होता है—यह निश्चित् है ।।३९८½।।

व्याख्या—जिनका कोश (लिङ्ग देह) नाश हो जाता है उसका फल विदेह कैवल्य है, कि निरोध ? फिर गोपियों का जब लिङ्ग देह नष्ट हो गया तो उनको विदेह कैवल्य होना चाहिये न कि निरोध ? ऐसी दशा में निरोध क्यों ? इस शङ्का निवारणार्थ 'जीवत' इत्यादि कारिका कही है, 'आहुश्चतेनलिननाम' ततःकामैः पूर्यमाणः स व्रजः सहबान्धव.' यहां तक के ग्रन्थ से उनके देह की स्थिति का ज्ञान होता है कि ज्ञानियों की तरह इनकी स्थिति है इसलिए ये भक्तिमार्गीय भक्त हैं, जिनका फल निरोध रूप हो हैं, उनका लिङ्ग देह तो नाश हुआ किन्तु उस देह ने आधिदैविक रूप धारण कर लिया इसलिए वे ज्ञानिवत् विदेह नहीं, तथा ऐसे देह में आधिदैविक सर्व शक्तिमान् रस स्वरूप परमात्मा प्रकट हो गये हैं जिससे उनको जीवन तक अपना देह स्थिर रखता है जिसके द्वारा प्रभु कृपा से दोनों फल साथ-साथ भोगते हैं,—यही ज्ञानमार्ग से भक्तिमार्ग की उत्कृष्टता (विशेषता) है। संसार भोगते हुए भी भक्तजनों को भगवान् में ही व्यसन बना रहता है, इसलिए ऐसी स्वा-भाविक स्थिति के कारण लोक एवं परलोक में दुःख नहीं, इसी तरह प्रथमाध्याय का विचार किया ।।३९८-½।।

कारिका—**लोकद्वयेष्टग्रहं तुल्यं हरेर्नान्यत्परं सुखम् ।।३९९।।**
विरोध्यन्योन्यमन्यत्र याचितं तेन तद्विधम् ।

कारिकार्थ—संसार तथा भगवान् दोनों इष्ट फल तब होते हैं,जब वे हरि से प्राप्त किए जाते हैं, अन्यथा परस्पर विरुद्ध हैं । इसलिए गोपियों ने दोनों फल परस्पर विरुद्ध न बने, इस प्रकार से माँगे थे ।।३९९½।।

व्याख्या—'संसार और भगवान्' दोनों फल हमको साथ में हों, ऐसी इच्छा को पूर्ति वे ही कर सकते हैं जो सर्व शक्तिमान् हों वे श्री कृष्ण ही हैं अतः गोपियों ने भगवान् से ऐसा ही फल माँगा, यद्यपि संसार और भगवान् एकत्र स्थित नहीं होते हैं; क्योंकि परस्पर दोनों फल विरुद्ध हैं, किन्तु भक्ति मार्ग की यही उत्कृष्टता है कि भक्ति मार्ग में दोनों विरोधी भी साथी बन जाते हैं । अतः भक्ति (पुष्टि) मार्ग में भक्त संसार (गृहस्थ) में रहते हुए भी भगवान् के चरणारविन्दों में मन को आसक्त रख, उनका मकरन्द रस पान करते रहते हैं ।।३९९½।।

कारिका— **अतिदेशार्थमन्येषां निकटे कथनं मतम् ।।४००।।**
स्त्रीणां स्वस्वपतौ स्नेहः सहजस्तन्निवृत्तये ।
कृष्ण स्त्रीणां विवाहानां कथा त्वत्र निरूप्यते ।।४०१।।

कारिकार्थ—अतिदेशार्थ अर्थात् जो अन्य भी मेरे निकट हैं, उनको भी इसके प्रभाव का ज्ञान हो । इसलिए दूसरों की भी कथा कही है । स्त्रियों को अपने-अपने पति में सहज प्रेम होता ही है, उसको मिटाने के लिए यहाँ कृष्ण की स्त्रियों के विवाह की कथा निरूपण की है ।।४००-१।।

व्याख्या—द्वितीय अध्याय का विचार 'अतिदेशार्थं' आदि कारिकाओं से अध्याय के आरम्भ में जो 'अथ' शब्द दिया है, उसका आशय है कि गोपियों की तरह युधिष्ठिरादि और स्त्रियों का भी अधिकारानुसार निरोध का ज्ञान हो जाय । इसलिए अनुवादपूर्वक यह कथन है—यों तात्पर्य है ।

पूर्वाध्याय में गोपियों के निरोध की कथा कही, वह कथा दूसरों को भी हितप्रद(लाभदायक) हो, इसलिए दूसरे अध्याय में युधिष्ठिर आदि के निरोध की कथा कही गई है । कृष्ण की स्त्रियों के विवाहों की कथा से स्त्रियों का लौकिक पति में जो स्नेह था, उसकी निवृत्ति कराई गई है, जिससे लोक तथा वेद के दोष से वे मुक्त हो जाने से निरुद्ध हो गई । उनको लोक-वेद विरोध-दोष परिहार के लिए आगे 'लोकाद्भयं' कारिका द्वारा समझाते हैं ।।४००-१।।

कारिका—**लोकाद्भयं गोपिकाभिः पूर्वमेव निवारितम् ।**
पुरुषोत्तमभावेन वैदिकं च निवारितम् ।।४०२।।

कारिकार्थ— गोपियों का लोक से भय पहले ही मिटा दिया है । अब पुरुषोत्तम के भाव दृढ़ होने से वैदिक भय भी मिटा दिया है । ४०२ ।

व्याख्याः—भगवद्भक्ति करने में लोक भय और लोक लज्जा नहीं करनी चाहिये, जैसे गोपियों ने भगद्भक्ति करते हुए लोक भय पहले ही त्याग दिया था अब उनको यह ज्ञान भी हो गया कि श्री कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम हैं इससे 'पर' अन्य कोई नहीं है वेद से भी उत्कृष्ट 'पर' यही है जिससे गोपियों का वेद भय भी मिट गया । अतः उन्होंने अपना सहज प्रेम पतियों से निकाल, भगवान से किया— पतियों से प्रेम न निकालने में लोक-वेद भय ही कारण है– जो भय उनका नष्ट हो गया ।।४०२।।

कारिका—**उत्कर्षे तु श्रुते स्त्रीणां पूर्वभावो विनश्यति ।**
पश्चात्तापश्च जायेत विवाहख्यापनं ततः ।।४०३।।

कारिकार्थ– स्त्रियों ने जब श्रीकृष्ण का उत्कर्ष सुना व समझा, तब उनका पहला भाव नाश हो गया और यों पहले प्रकार के भाव करने का पश्चात्ताप करने लगीं । अतः विवाह का वर्णन किया गया है ।।४०३।।

व्याख्या जब भगवान् का उत्कर्ष सुना जाय तब उससे पूर्व जो भगवान् से प्रेम न करने का भाव था वह नाश हो जाता है और पहले प्रकार के भाव करने का पश्चात्ताप होता है अर्थात् हमने श्री कृष्ण से अब तक प्रेम नहीं किया वह बहुत बुरा किया, इसलिए भगवान् श्री कृष्ण) का उत्कर्ष दिखाने के लिए ही उनकी पत्नियों के विवाहों की कथा प्रसिद्ध की है । ।।४०३।।

कारिका—**कृष्णे कामाद्यभावाय दास्यं सर्वत्र वर्ण्यते ।**
सर्वभावेन सर्वासां विवाहकरणे क्षमः ।।४०४।।
सुतरां भक्तियुक्तानां लक्ष्मणायाः कथा तता ।

कारिकार्थ– श्रीकृष्ण में कामादि का अभाव है, यों दिखाने के लिए सर्वत्र अपना दास भाव ही दिखाया है । सर्व भाव से सकल स्त्रियों के साथ विवाह करने में श्रीकृष्ण समर्थ हैं. भक्ति वाली स्त्रियों के साथ सुतरां (सुन्दर प्रकार से) विवाह करते हैं तथा लक्ष्मणा की कथा विस्तारपूर्वक कही है ।।४०४।।

व्याख्या - श्री कृष्ण में कामादि दोषों के अभाव का प्रमाण (सबूत विवाह के समय पत्नियों की प्रकट की हुई अपनी दास्यभाव की प्रार्थना है भगवान् सर्व भाव से सकल स्त्रियों के भावानुरूप विवाह करने में समर्थ हैं । आचार्य श्री ने श्री सुबोधिनी में भगवान् की आठ पटराणियों को आठ भक्तियों का स्वरूप कहा है, उन भक्तिरूपा आठ पटरानियों से श्रेष्ठ रीति से विवाह हुआ है । भौमासुर के यहां से लाई हुई स्त्रियाँ आत्म निवेदनरूप नवमी भक्ति के स्वरूप हैं, यों उनकी कथा से ज्ञात होता हैं लक्ष्मणा के विवाह का वर्णन विस्तार से किया है, इस विवाह से भगवान् ने द्रौपदी का गर्व मिटाया है. यों आचार्य श्री सुबोधिनी में कहते हैं ।। ४०४½ ।।

कारिका—**द्रौपदी पुष्टिमार्गस्था ततः पृच्छति यत्नतः ।।४०५।।**
तदुत्कण्ठपराः सर्वा रुक्मिण्यादिवदेव ताः ।
जाता इति पुरा प्रोक्तात्फलादेतद्विशिष्यते ।।४०६।।

कारिकार्थ—पुष्टिमार्गीया द्रौपदी प्रयत्नपूर्वक पूछती है कि ये विवाह कैसे हुए ? अन्य सब उत्कण्ठित होकर सुनती हैं। इन कथाओं के सुनने से सब रुक्मिणी जैसी हो गई ।।४०६।।

व्याख्या—आचार्य श्री ने सुबोधिनी में इसका स्पष्टीकरण किया है कि इन कथाओं के श्रवण से अन्यों का भी धीरे-धीरे भगवान् में रुक्मिणी जैसा प्रेम हो गया जिससे वे भी वैसी तन्मय हो गई। ।४०५ ४०६ ।।

कारिका—**विस्मयाविष्टचित्तानां भविष्यति तथा हरिः ।**
पूर्वोक्तानामपि तथा क्रमवृद्धचा क्षणे क्षणे ।।४०७।।
महिषीणां यथा भावस्तथा साधु भविष्यति ।

कारिकार्थ—पूर्व (पहिले) कही हुई विस्मययुक्त चित्त वाली स्त्रियों का भी हरि वैसे ही निरोधकर्त्ता होंगे, जिससे उनका भी हरि या प्रेम क्षण-क्षण में बढ़ता रहेगा एवं वह प्रेम पटरानियों के प्रेम के समान ही उत्तम प्रेम होगा ।।४०७।।

व्याख्या—साधन न करने पर भी अन्यों का यह भाव कैसे हुआ ? इस पर कहते हैं—'विस्मयाविष्ट..... —... ... भविष्यति' पटरानियों के विवाह की कथा सुनते हुए जो अन्य स्त्रियाँ विस्मय युक्त हो गईं, उनका भी भगवान् ने कृपा से निरोध किया जिससे उनका भी भगवान् में वैसा ही उत्तम प्रेम धीरे-धीरे होने लगा जैसा पटराणियों का था, यों आठ कारिकाओं से दूसरे अध्याय का विचार किया ।४०७½।

कारिका—**लौकिकानखिलानेवं समुद्धृत्य मनीषया ।।४०८।।**
वैदिकानृषिदेवांश्च पूर्वभावस्य सिद्धये ।
ततः प्रभृति पूज्यन्त इति न्यायेन वै हरिः । ४०९।।
स्तोत्रं तेषां चकाराऽऽद्ये निरोधार्थं तु ते पुनः ।
विपरीत सर्वमाहुः शास्त्रार्थोऽयं हि पुष्टितः ।।४१०।।
सान्निध्यादेव सर्वेषां हृद्येवं समुपागतम् ।
अनेनैवोपदेशोऽभूत् फलं चाऽपि समं मतत् ।।४११।।

कारिकार्थ—सकल लौकिक पुरुषों का इस प्रकार उद्धार कर अनन्तर वैदिक ऋषि तथा देवों के पूर्व भाव की सिद्धि हो, जिससे वे पूजनीय बने—इस आशय से हरि ने प्रारम्भ में उनकी स्तुति की। वे तो अपने निरोध के लिए उससे जो विपरीत कहते हैं, वह शास्त्रों का अर्थ (तात्पर्य) है। उस समय भगवान् का सान्निध्य था। अतः अनुग्रह से यह समस्तों के हृदय में यों स्थिर हो गया अथवा समझ में आ गया ।।४११।।

व्याख्या—तीसरा अध्याय 'लौकिका नखिलानेवं'..... कारिकाओं से विचारते हैं, वैदिक ऋषि तथा देवों का आगे की तरह फिर पूजनादि हो इसलिए भगवान् ने आदि में ही इनकी बुद्धि पूर्वक स्तुति की है, यह न्याय भारत तथा पाद्म पुराणों आदि में प्रसिद्ध है, अर्थात् भगवद्भुक्ति करने से जिनमें भगवदावेश आ जाता है और फिर जिनका भगवान् ने सन्मान् किया है वे जीव इस समय से सकला लोगों के पूज्य बनते हैं—? वे कारिका में 'तु' शब्द पूर्व पक्ष के निरासार्थ दिया है यों कहने का अभिप्राय 'ते पुनः" से कहते हैं—ऋषि लोग भगवत्स्तुति से प्रसन्न नहीं हुए कारण कि वे अपना भगवान् में निरोध चाहते थे, इसलिए इसके (भगवान् के वचनों के) विरुद्ध कहने लगे, अर्थात भगवान् के स्वरूप का वर्णन कर उसको प्रणाम कर उनके दर्शनों से अपने को कृतकृत्य मानने लगे। ऋषि लोगों ने जो कहा वह ही शास्त्रों का तात्पर्य है। अतः वह तात्पर्य वहां जो भी उस समय उपस्थित थे उनके हृदय में वह स्थिर हो गया कारण की भगवान् स्वयं वहां उस समय विराजमान थे जिससे जाना जाता है कि इससे भगवान् की भी सम्मति थी। इस चरित्र व लीला से भगवान् ने दूसरा कार्य भी सिद्ध किया अर्थात् फल की भी प्राप्ति करवाई—इसी तरह सबको अधिकारानुसार निरोध सिद्ध हो गया। ।। ४०८ ४११ ।।

कारिका—**प्रमेय बलमासाद्य यादवानां फलं पुनः ।**
कृत सन्देहजननात्प्रमाणेनोच्यते पुनः ।।४१२।।

कारिकार्थ - प्रमेय बल द्वारा जो फल यादवों को प्राप्त कराया था, उसमें सन्देह उत्पन्न होने से पुनः वह प्रमाण से कहा जाता है ।।४१२।।

व्याख्या—जब सबको पूर्ण फल मिला तो फिर शेष क्या रहा था, जो वसुदेव जी के यज्ञ की कथा कहने में आई' ऐसी आकांक्षा होनेपर उसका प्रयोजन कहने के लिए पहले प्रश्न प्रयोजन 'प्रमेय --' कारिका से कहते हैं कि इस सात्विक प्रकरण के प्रमेय प्रकरण में प्रमेय बल से यादवों को दोषाभाव रूप फल प्राप्त कराया, किन्तु नीति से उसमें सन्देह उत्पन्न हुआ उनको सदोष कहा, इसलिए फिर प्रमाण से उनकी निर्दोषता सिद्ध की गई है। जिससे वसुदेव के यज्ञ की कथा कही है ।।४१२।।

कारिका—**वसुदेवस्य सम्प्रश्नस्ततो यागार्थमुच्यते ।**
ईशलीलां सुदुर्बोधां मत्वा ते संशय गतः ।।४१३।।

कारिकार्थ—यज्ञ होना चाहिए, इसलिए वसुदेव का प्रश्न कहा है। भगवान् की लीला समझनी कठिन है, यों मानकर वे संशयग्रस्त हुए ।।४१३।।

व्याख्या—उस हेतु से यज्ञ के लिए वसुदेव का प्रश्न है। वे अर्थात् यादव भगवान् की दुर्बोध लीला न समझने से संशय को प्राप्त हुए। ।। ४१३ ।।

कारिका—**नारदः पूर्ववत्प्राह सर्वसन्देहवारकः ।**
सात्त्विक प्रक्रियायां हि प्रमाणं न हि दर्शितम् ।।४१४।।
ततः कृष्णकृतं सर्वं लौकिक मेनिरेऽखिलाः ।

कारिकार्थ—सकल सन्देहों को मिटाने वाले नारद अब भी पहले की तरह कहते हैं अर्थात् सन्देह मिटा देते हैं। सात्त्विक प्रकरण में प्रमाण नहीं दिखाया है। इससे श्रीकृष्ण के किए हुए कार्यों (लीलाओं) को सब लोग लौकिक मानते थे—इस संशय को नारद ने मिटा दिया ।।४१४।।

व्याख्या—इतने से ही इस प्रकार संशय कैसे हुआ? इसका उत्तर 'सात्विक प्रक्रियायां' कारिका से देते हैं कि, सात्विक प्रकरण में प्रमाण नहीं दिखाया है इसलिए इनको (यादवों को) संशय हुआ, कारण कि ये खल हैं जैसे कहा है कि 'यादवनितरामपि' ।। ४१४ ।।

कारिका— **अतो यागोत्सवो जातौ लौकिकं वैदिकं तथा ।।४१५।।**

एकीभूयाभवद्भक्तौ तेन सर्वेऽभवन् समाः ।
सर्वेषां सर्वभावो हि फलादपि हरिः फलम् ।।४१६।।

सात्त्विकप्रक्रियायां हि सर्व एव निरूपिताः ।
निर्गुणत्वं समापन्ना निरोधोऽत्रैव रूपितः ।।४१७।।

कारिकार्थ—इस कारण से यज्ञोत्सव हुआ, लौकिक तथा वैदिक दोनों साथ ही सर्व भक्ति में उपयोगी हुए, जिससे सब समान बने, सभी का भगवान् में सर्व भाव दृढ़ हो गया और समझने लगे कि सर्व फलों से उत्तम फल हरि ही है। इसी तरह सात्त्विक प्रकरण में सब सात्त्विक बन गए, यों निरूपित है। सात्त्विक होकर निर्गुणता को प्राप्त हुए, यहाँ ही निरोध बताया है ।।४१७।।

व्याख्या—अब संशय की निवृत्ति का प्रकार बताते हैं कि, अतः अर्थात् इस संशय निवृत्यर्थ ही लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार से यज्ञोत्सव सिद्ध हुआ, यह लौकिक वैदिक यज्ञ का सर्व कार्य भक्ति के लिए हुआ था, जिससे भक्ति में उपयोगी हुए इससे अर्थात् यज्ञ क्रिया भक्ति में उपयोगी होने से सब यादव जो राजस हुए थे वे भी अब चित्त की विषमता दूर होने से समान हो गये अर्थात् सात्विक बन गये, राजसादिकों का सात्विक बनना शेष था इसलिए इस कथा का अवतरण किया गया है, इसी तरह सबकों पूर्ण फल निरूपण कर, उपसंहार करते हैं कि 'सर्वेषां ..... हरिः फलम्' सबों का भगवान् में सर्व भाव दृढ़ हो गया और समझ गये कि सकल फलों से उत्तम फल हरि ही हैं, इस प्रकार सात्विक प्रकरण में सब 'सात्विक बने', अनन्तर ही निर्गुणता को प्राप्त कर निरोध-सिद्धि को प्राप्त हुए, छान्दोग्य में जो दो भेद अहङ्कारादेशात्मा देश कहे हैं वे यहां जब पूर्ण सिद्ध हुए तब यहां स्कन्ध प्रतिपाद्य निरोध पूर्ण सिद्ध हुआ, यों अर्थ (तात्पर्य) है। इसी तरह ११३ कारिकाओं से सात्विक प्रकरण का विचार किया है।

।। इति सात्विक-फल-उप-प्रकरणं-समाप्तम् ।।

।। श्री हरिः ।।

• भूमिका •

सात्त्विक - फल - अवान्तर - प्रकरण

इस सात्त्विक-फल-प्रकरण में स्पष्ट दुःखाभाव रूप फल देने के लिए श्रीकृष्ण ने तीन प्रकार के दुष्टों का वध कर जब पुर में प्रवेश किया, तब देव, मानव और मुनियों ने पुष्प वर्षा के साथ आपकी विजय का गान किया। यह कार्य ऐश्वर्य का बोधक है और जब आपने नगर में प्रवेश किया था, तब आपके हाथ में शस्त्र नहीं थे, तो भी यादवों ने आपकी आज्ञा का पालन किया—यह कार्य भी आपके ऐश्वर्य को प्रकट करता है। बलरामजी ने देखा कि अधम वक्ता से यदि कथा सुनी जावेगी, तो पाप लगेगा—उस पाप का स्पर्श सर्व साधारण को भी न होवे, हालांकि कलि काल के दोष के कारण ऋषियों ने अधम वक्ता को कथा करने के लिए स्थापित किया है, तो भी इसका वध करना उचित जान कर वध किया, फिर ऋषियों के सन्तोष के लिए सकल सामर्थ्य वाले, भागवत कथा श्रवण-कथन के अधिकारी, अपने अवतार रूप उसके पुत्र को स्थापित कर अपना ऐश्वर्य प्रदर्शित किया है—इत्यादि से इस सात्त्विक-फल-प्रकरण के प्रथम अध्याय में अपने ऐश्वर्य धर्म का आविर्भाव किया है।

द्वितीय अध्याय में भगवान् ने पाण्डवों में अपना सामर्थ्य स्थापित कर सर्व प्रकार से सहायता देने से अपना वीर्य धर्म दिखाया है। बलरामजी ने भी ऋषियों के असाधारण दोष रूप बल्वल का वधकर तीर्थों में जो दैत्य सम्बन्ध से वर्णाश्रम धर्मनाशक दोष उत्पन्न हो गए थे। उनका तीर्थाभिषेक द्वारा नाश कर अपना वीर्य प्रकट कर दिखाया है और ऋषियों को ज्ञानोपदेश देकर उनका श्रीमद्भागवत श्रवण में अनन्य रूप उत्तम अधिकार सिद्ध किया है—यह भी वीर्य कार्य है। अतः इस अध्याय में वीर्य निरूपण हुआ है।

भगवान् ने तीन प्रकार के दुष्टों के वध से पाण्डव और यादवों के तीन गुणों द्वारा उत्पन्न दोषों की निवृत्ति की, जिससे उनके स्पष्ट और अस्पष्ट दुःख मिटा दिए। बलरामजी ने सूत के वध से काल दोष की निवृत्ति की। बल्वल के वध से और तीर्थाभिषेक से देश के दोषों की निवृत्ति की। यज्ञ और ज्ञान से आत्मा के दोष की निवृत्ति की, जिससे दुःख का अभाव हुआ। सूत के वध से ऋषियों का अस्पष्ट जो दुःख का हेतु था, उसको मिटाया। तीर्थ स्नान से दैत्य सम्बन्ध को हटा दिया और सर्व लोगों के जो अस्पष्ट दुःख के हेतु थे, उनको भी मिटाया—यों अध्याय द्वय का विभेद है। इस फल-प्रकरण के तीसरे अध्याय में सुदामा ब्राह्मण को सुखोत्कर्ष रूप फल के दान के लिए और पूर्ण ऋषित्व एवं भक्तत्व रूप अलौकिक सम्पत्ति सम्पानार्थ भगवान् ने भ्राता के समान सम्मान एवं सम्भाषणादि यशो रूप कार्य कर यश धर्म प्रकट किया है।

इस फल-प्रकरण के चतुर्थ अध्याय में सुखोत्कर्ष रूप फल को देने के लिए तण्डुल की मुष्टि आरोग कर परोक्ष में ही ब्राह्मण स्त्री को लौकिक सर्व प्रकार की समृद्धि दान कर अपना श्री रूप धर्म प्रकट किया है।

इस फल-प्रकरण के पाँचवें अध्याय में जिसकी जैसे स्वरूप के दर्शन की इच्छा थी अथवा अधिकार था, उसी आकार से श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र में आए हुए सर्व मनुष्यों में अपने सान्निध्य एवं दर्शन आदि से शुद्ध सात्त्विक भाव उत्पन्न कर देह आदि समग्र जगत् उनको भुला दिया एवं मैं सबसे पर हूँ—यह भी जनाकर अधिकार अनुसार स्वरूपात्मक फल को देने के लिए सर्व लोक प्रसिद्ध वैसे काल को निमित्त बनाया, जिससे कुरुक्षेत्र में सर्व मनुष्यों का आना और अपना भी वहाँ जाना हुआ। समस्त मनुष्यों के निरोध के उपाय का ज्ञान ही जड़ है और गोपियों को सर्वात्म भाव से निरोध करने के लिए अन्त में साक्षात् ज्ञानोपदेश देने से ही इस पाँचवें अध्याय में ज्ञान धर्म का निरूपण हुआ है।

इस फल-प्रकरण के छट्ठे अध्याय में स्त्रियों को अत्यन्त प्रिय कृष्ण को ही फल रूप बताने के लिए सर्व स्त्रियों का अपने-अपने पति में विद्यमान जो सहज प्रेम था, उसकी निवृत्ति के लिए अपने प्रथम किए हुए का पश्चात्तापपूर्वक और कृष्ण में स्नेह वृद्धि के लिए द्रौपदी के पूछने पर श्रीकृष्ण की स्त्रियों ने लोक और वेद से भगवान् का उत्कर्ष प्रकट करने वाला अपने-अपने विवाह का ढङ्ग कह कर यह आशा व्यक्त करते हुए प्रार्थना की कि हमको भगवत्सेवोपयोगी देह को सम्पादन करने वाला जो दास भाव है, वह प्राप्त हो तथा चरण रज की प्राप्ति हो—यह प्रार्थना की। इससे उन्होंने यह सिद्ध किया है कि श्रीकृष्ण की हमारे में काम वासना नहीं है। अतः यहाँ वैराग्य धर्म प्रकट कर दिखाया है।

इस सप्तम अध्याय में सर्व साधन सम्पन्न ऋषि भगवान् के दर्शन करने के लिए आए और आकर भगवान् की स्तुति की, जिसमें आत्म समर्पण कहने से यह सिद्ध किया है कि ऋषि, देव और पितरों का अत्यन्त प्यारा श्रीकृष्ण का स्वरूप ही फल है। यादव सात्त्विक भगवदीय बने, तदर्थ भगवान् ने उनमें संस्कार मात्र से स्थित राजसत्व दोष को प्रमेय बल से मिटा दिया था तो भी जब भगवान् ने उद्धवजी से पूछा कि नारदजी युधिष्ठिर के यहाँ चलने के लिए कहते हैं और दूत राजाओं को मुक्त कराने के लिए प्रार्थना कर रहा है, अब हम क्या करें? ऐसा प्रश्न करते देख यादवों को कृष्ण में भगवत्व का सन्देह उत्पन्न हुआ और लौकिक बुद्धि जगी; क्योंकि उनका पूर्ण रीति से निश्चित् निरोध न हुआ था। अतः उनके दोषों का पुनः प्रमाण बल द्वारा नाश कर उसके बाद सात्त्विकपन और भगवदीयत्वपूर्वक सर्व भाव से पूर्ण निर्गुणता सम्पादक निरोध के लिए वसुदेवजी ने कर्म से कर्म निर्हार का उपाय ऋषियों से पूछा, अन्त मे नारदजी ने सर्व सन्देह निवृत्त कर समझाया कि कृष्ण ही यज्ञ फल रूप है, उनके लिए ही यज्ञादि करने से लौकिक-वैदिक साधनों की सफल सिद्धि होती है और एक ही भाव से सर्व दोष निवृत्ति हो गई जिससे यादवों में सात्त्विक और भगवदीयत्व सिद्ध हो गया। सर्वात्म भावपूर्वक पूर्ण निरोध तथा निर्गुणत्व भी सिद्ध हुआ। सात्त्विक-प्रकरण में सर्व ने अवभृथ स्नान से भी वही फल सिद्ध किया—स्वरूप से ही परमानन्द लक्षण रूप फल दान से धर्मी का निरूपण हुआ है।

॥ श्री हरिः ॥

दशम स्कन्ध की सुबोधिनीजी की महत्त्वपूर्ण पंक्तियों का अर्थ

श्रीकृष्ण अवतार किसी भी अंश से अथवा अज्ञात शक्तियुक्त अन्य अवतार जैसा नहीं है, परन्तु पूर्ण शक्ति वाले साक्षात् पुरुषोत्तम का ही है—(१०-७४-३१)। आपका अवतार इसलिए हैं कि दुष्टों का निराकरण करना, जिसके ऐसे दोष हों—जिनका निराकरण अशक्य हो, उनका स्वरूप से नाश करना, दूसरों को दोष सम्बन्ध से दूर करना .....आपके चरणों के अनुसरण का हो जिनका स्वभाव है, उनके उदय के लिए अथवा मुक्ति के लिए अथवा उनका संसार मिटाने के लिए या संसार के लिए आप ही अवतरित होते हैं—(१०-२४-६)। भक्तों के दुःख नाश करने के लिए ही श्रीकृष्ण अवतार माना गया है। जो भक्त शास्त्ररहित हैं, जो स्त्री हैं, जो शूद्र हैं, जो द्विजबन्धु (जन्म से ब्राह्मण; पर-कर्म से नहीं) हैं, उनके भी उद्धारक श्रीकृष्ण हैं—(१०-१-१७)। प्राणी मात्र को मोक्ष देने के लिए भगवान् प्रगट हुए हैं। इससे यह प्राकट्य मोक्ष के लिए ही है, नहीं तो असाधारण प्रयोजन न होने से प्राकट्य न हो। भूभार हरणादि तो अन्य रूप से भी सम्भव है। अतः भगवान् की अभिव्यक्ति प्रागट्य मोक्ष के लिए हो है.....अपना अथवा दूसरे का अन्य प्रयोजन न होने के कारण यदि साधन की अपेक्षारहित मुक्ति न दें, तो प्रागट्य का प्रयोजन हो न रहे—(१०-२६-१४)।

इस लोक में जो जन्म लेता है, वह सामान्य रूप से ही अपनी गति को नहीं जानता। यदि जान भी ले, तो उसके बाद दोष दूर करके उसे प्राप्त करने का ज्ञान, फिर शास्त्रानुसार क्रम से साधनों का अनुष्ठान, फिर आत्म प्राप्ति फिर ब्रह्मात्म भाव, फिर भगवद् ज्ञान, फिर भगवान् के स्थान का दर्शन; यह सब करोड़ों जन्मों के द्वारा भी नहीं हो सकता—(१०-२५-१३)।

अलौकिक (भौतिक विषयों से इतर) में भगवान् ही साधन है—(१०-६१-४)। यहाँ प्रमेय (भगवान्) में विधि नियामक नहीं है, इसलिए भगवान् के लिए कोई विहित या निषिद्ध (कोई कार्य करने योग्य या न करने योग्य नहीं है। भगवान् जिसका रक्षण करते हैं, उसका नाश नहीं होता है—(१०-२-२८)।

साधन सम्पत्ति से हरि किसी पर प्रसन्न नहीं होते हैं। भक्तों के लिए 'दैन्य' यही प्रसन्न करने का साधन है। प्रसन्न हुए भगवान् सब दुःखों का सब प्रकार से सर्वथा नाश करते हैं।

समर्पित अङ्गीकारः—मेरे लिए सम्पादन (प्राप्त) करके अपने अधिकारानुसार चाहे जहाँ जीव मुझे निवेदन करें, वहाँ मैं भक्षण करता हूँ.....ऐसा करते समय स्थान से लाने से लगाकर मेरे समीप लाने तक स्नेह की अविच्छिन्नता (एक धारा) की आवश्यकता है—(१०-७८-४)।

संग्रहकर्त्ता— **गो०वा० श्री गोपालदासजी झालानी**
भूतपूर्व प्रधानमन्त्री : अ०भा०पु० वैष्णव परिषद्
सम्पादक : 'श्री वल्लभ विज्ञान'

राग सारंग

अर्थ करो पंडित अरु ज्ञानी ।
रवि के अन्त आगम दधि-सुत के, द्वे षट् चार अधिक छबि बानी ।।१।।
नहिं व्रजवनिता, नहिं सुर वनिता, नहिं राधा सहचरी सयानी ।
नहिं नर नारी भरम जिन भूलो ब्रह्म सृष्टि में यह नहीं उपानी ॥२।।
सारंग-सुत सारंग-चक्षु दीने, सारंग-सुता देख बिलखानी ।
कनक सहोदर वश कर लीने, सूर, गूढ निज संतन जानी ।।३।।

सूरदासजी कहते हैं कि जो पंडित (विद्वान और ज्ञानी हैं वे इस पद का अर्थ करें। 'रवि के अन्त'— सूर्य के अस्त होने पर तथा 'आगम दधिसुत के' चन्द्रमा के उदय होने पर अर्थात् संध्या के समय, "द्वे षट्" बारह अर्थात् बारह प्रकार के आभरण (उबटन, केश संवारण, मांग में सिन्दूर, लिलाट पर केसर की आड, भृकुटी के बीच में बिन्दी, नेत्र में अंजन', ताम्बूल (पान) चर्वण ठोडी पर श्याम बिन्दु, अत्तर अंगराग, पुष्प माला धारण, हाथों में मँहदी, चरणों मे महावर) तथा चार अर्थात् १२ और ४ हुए १६ सो सोलह शृंगार (चरण-नख से शिखा तक स्वर्ण, जडाउ आभुषण एवं वस्त्रों से सुसज्जित) से अधिक शोभा युक्त (युवती) है (वह) "नहिं व्रज वनिता,"— व्रज की महिला नहीं है— 'नहिं सुर वनिता' कोई देवांगना नहीं है— 'नहिं राधा सहचरी सयानी'— वह राधिका जी अथवा उनकी कोई चतुर सहेलीं भी नहीं है— 'नहिं नर नारी'— किसी मनुष्य की स्त्री जैसे रूपवती दमयन्ती आदि नहीं है— भरम जिन भूलों—ऐसा भ्रम कर के भी मत भूलो— क्यों कि 'ब्रह्म सृष्टि में नहीं उपानी'— ब्रह्मा की सृष्टि में वह उत्पन्न नहीं हुई है ऐसी सुन्दरी, सारंग चक्षु—मृग के जैसे सुन्दर नेत्रों में—सारंग सुत–दीपक का सुत अर्थात् काजल धारण कर कटाक्ष कर रही है जिसे देख कर सारंग-सुता अर्थात् पर्वत की सुता–पार्वतीजी, बिलखानी–उदास हो गई तथा कनक सहोदर-ब्रह्माजी के भाई महादेवजी 'वश कर लीने'–उस सुन्दरी ने वश में कर लिए हैं— सूरदासजी कहते हैं कि इस का रहस्य भगवद्-भक्तों ने जाना है है कि प्रभु को गर्व (अभिमान) नहीं रुचता है इसलिए मोहिनी स्वरूप के दर्शन दिये, महादेवजी को अभिमान था कि मैंने कामदेव को भस्म कर दिया है सो कोई स्त्री मुझे वश में नहीं कर सकती है तथा पार्वतीजी को अपने सौन्दर्य का गर्व था सो उन दोनों के गर्व का हरण मोहिनी रूप से किया। अतः– दैन्य ही प्रभु को प्रसन्न करने का एक साधन है

न हि साधन सम्यत्या हरिस्तुष्यति कस्य चित् ।
भक्तानाम् दैन्यमेवैकं हरितोषण साधनम् ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण

आसरो एक दृढ़ श्रीवल्लभाधीश को

क्वचित्पाण्डित्यं चेत् न निगम गतिः सापि यदि न क्रिया,
सा सापि स्यात् यदि न हरि मार्गे परिचयः ।
यदि स्यात्सोपि श्रीव्रजपतिरतिनेति निखलै-
र्गुणैरन्यः को वा विलसति विना वल्लभ वरम् ।।

—श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण

[कोई अवतार (बुद्धावतार) में पाण्डित्य है, परन्तु वेद में गति नहीं—अतएव कवि जयदेवजी कहते हैं कि 'श्रुति जातं निन्दसि'। "श्री ऋषभदेवजी" में पाण्डित्य है, वेद में गति भी है, परन्तु वैदिकी क्रिया नहीं है—मल-मूत्रादि का प्रक्षालन नहीं करते हैं। "कपिल" अवतार में पाण्डित्य, वेद-गति और कृति भी है, परन्तु हरि के मार्ग का परिचय नहीं—अतएव मातृचरण देवहूतिजी को तत्त्वज्ञान का और तदङ्गत्वेन भक्ति का उपदेश दिया। "व्यासावतार" में पाण्डित्य, वेद में गति, वैदिकी कृति और हरि-मार्ग का परिचय होते हुए भी व्रजपति में रति नहीं; क्योंकि व्यासजी 'ज्ञानावतार' हैं और ज्ञान तथा भक्ति का विरोध है—अतः ये पाँचों गुण केवल श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण महाप्रभुजी में विद्यमान हैं। इसलिए दूसरों का आश्रय छोड़ केवल इनका आश्रय करना ही जीव का कर्त्तव्य है।]

पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थ

(१) **धर्म** — सर्वदा सब भावों से युक्त व्रजाधिप (श्रीकृष्ण) की सेवा करना।

(२) **अर्थ** — भगवान् श्रीकृष्ण को ही सर्वस्व मानना; क्योंकि इस लोक एवं परलोक के कार्य आप बिना प्रार्थना किए स्वयं ही सिद्ध करेंगे।

(३) **काम** — भगवान् गोपीजन वल्लभ को हृदय-कमल में धारण करना; क्योंकि आप सर्व 'काम' पूरक हैं।

(४) **मोक्ष** — श्री गोकुलेश भगवान् श्रीकृष्ण को हृदय में धारण करने के पश्चात् सर्वात्मा करके उनकी सेवा व स्मरण का त्याग न करना ही 'मोक्ष' है।

॥ श्री हरिः ॥

• शुद्धि - पत्र •

सात्त्विक - फल - अवान्तर - प्रकरण

पृष्ठ	पंक्ति	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
२	६	३	बमरामजी	बलरामजी
६	३७	७	सिहवद्व्यनत्	सिहवद्व्यनदत्
७	१३	८	भावत:	भगवत:
८	१३	९	तस्तस्य	ततस्तस्य
१८	२३	२६	करतिी	करोति
१९	२४	२७	साक्षानिषिद्धा- चरणधर्म:	साक्षात्रिषिद्धा- चरणधर्म:
२२	१५	३०	यावत्सत्रं	यावत्सत्त्वं
२३	८	३१	योनेश्वरो	योगेश्वरो
२४	१५	३३	उपपति	उत्पत्ति
२६	२९	३८	सत्रमेत्य	सत्त्रमेत्य
२७	७	३८	सत्रमिति	सत्त्रमिति
२७	२५	३९	पस्श्रश्रूषण	परशुश्रुषण:
३१	६	१	अदृष्टं	अदृश्या
३७	२२	१६	कुलालय	कुलाचल
४४	२०	३०	ऋतुभि:	क्रतुभि:
४५	१७	३१	सत्रम्	सत्त्रम्
६०	१०	९	प्रापका	आपका
८१	१	३९	कृत चेत्तत्राह	कृत इति चेत्तत्राह
८५	१२	४४	भवानेव जगद्गुरु	भवानेव देवदेव । नापि गुरु प्रसादो मृग्यते यतो भवानेव जगद्गुरु: ।
९१	१२	३	अभक्ताका	अभक्त की
९६	८	८	परमप्राणनं	परमप्रीणनं
९६	२८	१०	तावच्छीर्जगृहे	तावच्छ्रीर्जगृहे
१०२	५	१७	आभसार्थ	आभासार्थं
१०८	८	२७	कररवाला	करनेवाला
१०९	१०	३०	आस्तरणानि	आस्तरणानि च
१११	२	३३	बाध	बोध
११७	१६	४०	भगवत्सुहृदा	भगवत्सुहृद्वा
१२७	१६	९	दानाद्यर्थं	दानाद्यर्थं
१३१	३३	१६	सर्व एव भगवदीयाश्च	सर्व एव भगवदीया: भगवदीयाश्च
१३६	२९	२७	वीक्ष्याविस्मिता	विक्ष्यविस्मिता:
१४०	३५	३१	नन्दस्त्रेति	नन्दस्तत्रेति
१४०	३९	३२	तत्रागमद्व्रतो	तत्रागमद्वृतो
१६२	२९	४	कश्चित्पूर्वभव	कश्चित्पूर्वभावं
१६२	३०	४	तद्दंतार	तद्दातारं
१६४	४	७	प्रकर	प्रकार
१७०	९	११	अर्जन	अर्जुन
१७१	४	१२	भ्रतृन्	भ्रातृन्
१७१	३४	१३	दुमदेति	दुर्मदेति
१७७	१८	२१	पित्ता	पित्रा
१८५	१९	३४	उंद्धतेस्वासा	उद्धृतेस्वासा:
१८६	२९	३६	प्रवेंश	प्रवेशं
१९५	२९	१	थों	थे
१९५	३८	१	माधनस्य	साधनस्य
२०३	३५	१३	तीथ	तीर्थ
२१४	३०	२५	जन्ममरणेदना	जन्ममरणादिना
२१७	४	२७	प्रकियान्तरमा- रदीक्ष्यते	प्रक्रियान्तरमा- रभतेर्द्रीक्ष्येति
२१८	५	२९	मत्सवरूपं	मत्स्वरूपं
२१८	१७	२९	यतेन	यतेरत्
२१८	२४	२९	ऋषांणां	ऋषीणां
२२०	१८	३१	प्रर	पर
२२७	१२	३८	गाहस्थ्ये	गार्हस्थ्ये
२२७	१४	३८	स्वर्गादि- लोकानामीषणा	स्वर्गादि- लोकामीषणा
२२८	२९	३९	जानमानो	जायमानो
२३७	६ ५२-५३		दवविवाहे	दैवविवाहे
२३७	९ ५२-५३		क्रप्यनुषय	क्राप्यनुषय

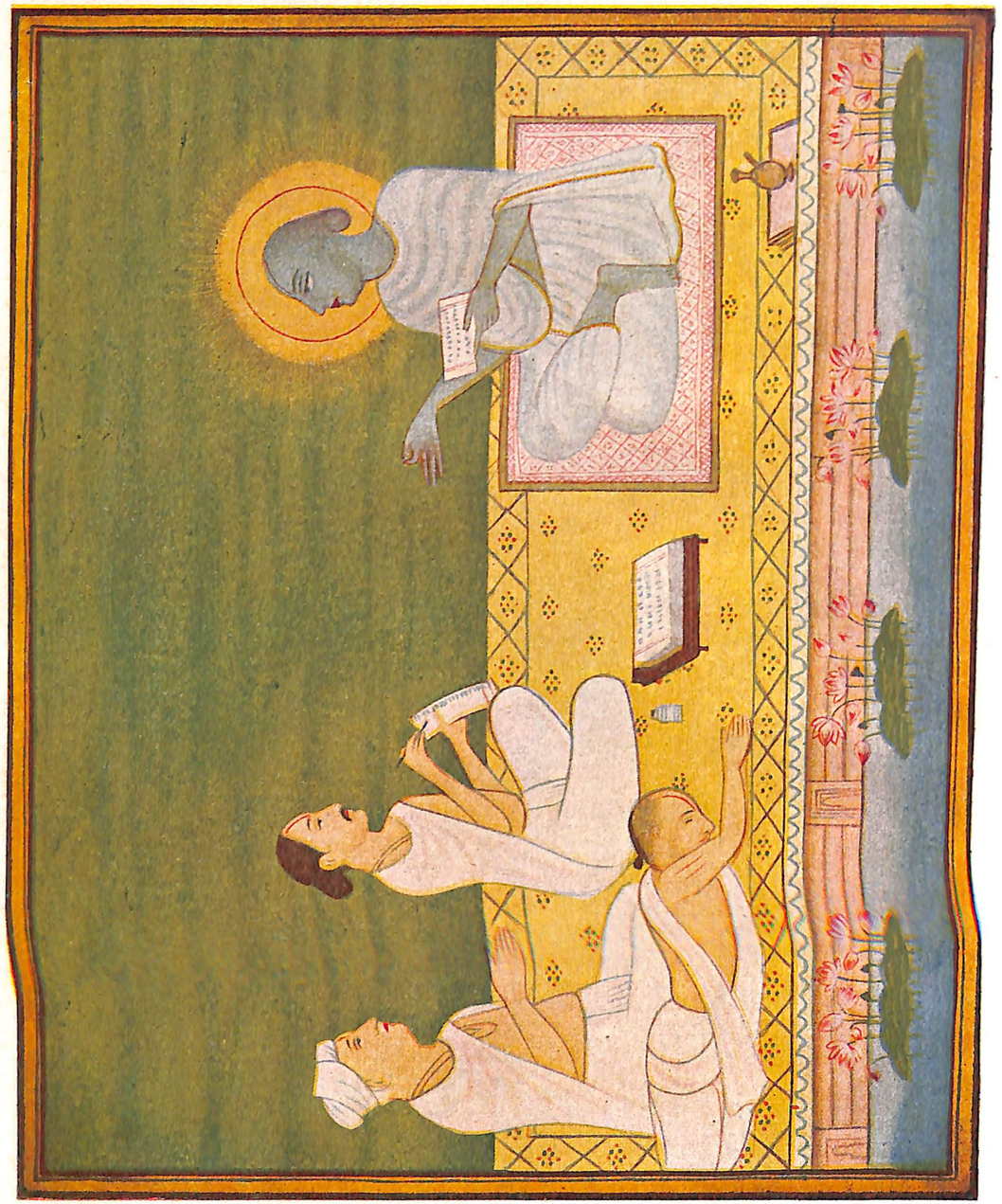

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प० भ० श्री माधवभट्टजी की सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

अखण्ड भूमण्डलाचार्य चक्र चूड़ामणी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण (श्रीमहाप्रभुजी)

प० भ० श्रीमाधवभट्टजी कश्मीरी

प० भ० श्रीकृष्णदासजी मेघन

प० भ० श्रीदामोदरदासजी हरसानी

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ७८वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ७५वाँ अध्याय
उत्तरार्ध २९वाँ अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"अथ—" १

दन्तवक्र और विदूरथ का उद्धार तथा बलरामजी के हाथ से सूत का वध

कारिका—**बलभद्रस्य सत्कीर्तिरध्यायद्वितयेन हि ।**
निरूप्यते ऋषिप्रोक्ता येनासौ सुस्थिरीभवेत ॥१॥

कारिकार्थ—ऋषियों की कही हुई, बलभद्र की सत्कीर्त्ति दो अध्यायों से निरूपण की जाती है । ऋषियों ने इसकी कीर्ति की प्रशंसा की है जिससे इसकी कीर्ति पृथ्वी पर अच्छी तरह स्थिर होगी ॥१॥

कारिका **तीर्थाभिषेकाद् यज्ञाच्च ज्ञानस्याप्युपदेशतः ।**
कीर्तिर्जातानुभावाच्च माध्यस्थ्याच्चेति वर्ण्यते ॥२॥

कारिकार्थ—तीर्थों के अभिषेक से, यज्ञ करने से, अपने प्रभाव से और ज्ञान के उपदेश करने से भी कीर्ति बढ़ती है, भीम और दुर्योधन के युद्ध के समय, ये (बल-

रामजी) मध्यस्थ थे, उस समय भी आपने सत्य निर्णय दिया कि 'तुम दोनों तुल्य बल वाले हो' दुर्योधन जामाता थे तो भी इसका पक्ष नहीं लिया इस सत्य निर्णय से भी आपकी कीर्ति का सर्वत्र फैलाव हुआ है जिसका वर्णन किया जाता है ।

कारिका—**विजयोयं यथा रामस्ततोऽध्याये निरूपितः ।**
रामस्य कीर्तिरूपे च तद्भ्राता च तथाविधः ।।३।।

कारिकार्थ—बलरामजी की कीर्ति का जिस अध्याय में निरूपण हुवा है उसमें दन्तवक्र[1] की कथा भी कही है, जिसका कारण यह है कि जैसे बलराम[2] वैसे वह भी भगवान् का दास ही है और उसके भ्राता विदूरथ भी भक्त हैं। बलराम भक्त है, अतः उसकी (बलराम) की कीर्ति भगवान् की ही कीर्ति है ।।३।।

कारिका—**अतो भगवतो भृत्यास्त्रय एकत्र रूपिताः ।**

कारिकार्थ—तीन ही भगवान् के भक्त हैं इस कारण से तीनों का ही वर्णन एक स्थान पर किया है ।।३½।।

आभास—तत्र प्रथमं भगवतः क्रियाशक्तिसमाप्त्यर्थं दन्तवक्त्र वधो निरूप्यते । दन्तवक्त्रस्यापि भगवत्सेवकत्वात्तन्मुक्तिश्च भगवत्कर्तव्येति अवतारप्रयोजनत्वेन निरूप्यते, पूर्वाध्यायान्ते दन्तवक्त्र समागत इत्युक्तं तत्किमर्थं केन प्रकारेणेति विस्तरेण निरूप्यते ।

आभासार्थ—पहले दन्तवक्र का वध इसलिए निरूपण करते हैं कि भगवान् को यहाँ ही क्रिया शक्ति समाप्त कर देनी है, आगे क्रियाशक्ति से कार्य नहीं लेना है, दन्तवक्र भी भक्त है, इसलिए भगवान् को उसकी मुक्ति करनी है। मुक्ति करना भगवान् के अवतार होने का प्रयोजन है। जिसका निरूपण करते हैं। पूर्व अध्याय के अन्त में दन्तवक्र के आने का कहा है, अब वह क्यों आया ? और किस प्रकार आया जिसका यहाँ विस्तार से निरूपण किया जाता है ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—**शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः ।**
परलोकगतानां च कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम् ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे, शिशुपाल शाल्व और पौण्ड्रक, इनके मर

१–दन्तवक्र विजयपार्षद है। २–बलराम, 'शेष' रूप से दास भृत्य है, दन्तवक्र विजय पार्षद होने से दास है।

जाने पर परोक्ष में अपना सुहृदयपन बताने के लिए (दुर्मति दन्तवक्र आया) ।।१।।

सुबोधिनी—यथा पत्नी भर्तृनिमित्तं प्रवृत्ता तन्मरणे स्वयमेव म्रियते तथा शिशुपालाद्यर्थं तन्मित्रम्, अयमपि जानन् मरणार्थमेवाऽऽगतः, न ह्यस्मिन्मृते तेषामुपकारो भवति तथापि **दुर्मतित्वात्तथा** कृतवान्। तत्र **शिशुपालो** राजसः, **दन्तवक्त्र**स्तामसः **पौण्ड्रकः** सात्त्विकः, एवंविधा बहव एव **अपि**शब्देन संगृहीताः। पतिव्रता च दुर्गतिं प्राप्तानामुद्धारार्थं म्रियत इति चेत्तत्राह **परलोकगतानां**मिति। तेषां भगवद्धस्तेन मरणात् परलोकः सिद्धः। **चकार**ादगतानामपि मुक्तानां वा। सौहृदं हि तैर्ज्ञातं तेषां सुकृतं भवति। प्रकृते तदभावेपि कृतवानित्याह **पारोक्ष्यसौहृद**मिति ।।१।।

व्याख्यार्थ—जैसे स्त्री पति के मरने पर स्वयं भी परोक्ष में पातिव्रत्य दिखाने के लिए मरती है, वैसे ही यह भी अपने मित्र शिशुपाल आदि के मर जाने पर अपना मित्रत्व दिखाने के लिए मरने के लिए ही आया। यद्यपि इसके मरने से उनका कोई उपकार नहीं होगा तो भी, मूर्ख दुर्मति होने से यों करने लगा। वहाँ उनमें से शिशुपाल राजस है, दन्तवक्र तामस है, पौण्ड्रक सात्विक है, इस प्रकार के बहुत ही 'अपि' शब्द से लिए गए हैं। पतिव्रता तो दुर्गति को जो प्राप्त हुए हैं उनको तारने के लिए मरती है, यदि यों कहते हो, तो यह भी परलोक गए हुए मित्रों के लिए ही मरने के लिए आया है। वे तो दुर्गति को प्राप्त नहीं हुए हैं, किन्तु भगवान् के हस्त से मरने से उनका परलोक तो सिद्ध हो गया है। 'च' पद से यह बताया है कि जो नहीं गए हैं वा जो मुक्त हुवे हैं उन्होंने सौहृद ही जाना है उनका सुकृत ही होगा। किञ्च प्रकृत प्रकरण में उसका अभाव है तो भी यह मरने के लिए आया है, जिसका कारण बताते हैं कि 'पारोक्ष्यसौहृदम्' परोक्ष में भी मित्रता का धर्म पालन करता हूँ यों सिद्ध करने लिए ही आया है ।।१।।

'एकः पदाति' श्लोक में किस प्रकार आया है वह कहते हैं ।

श्लोक—**एकः पदातिः संक्रुद्धो गदापाणिः प्रकम्पयन् ।**
पद्भ्यामिलां महाराज महासत्त्वो व्यदृश्यत ।।२।।

श्लोकार्थ—इकल्ला, प्यादल (पैदल) महान् बलिष्ठ, हाथ में गदा धारण किए, पाँवों से भूमि को कम्पाता, महान् क्रोध से युक्त दुर्मति दन्तवक्र देखने में आया ।।२।।

सुबोधिनी—मरणमेव चेद्वाञ्छितं किं सहायेनेत्येकः। तत्रापि **पदातिः**। क्रोधाभावे पलायनं च स्यादिति **संक्रुद्धः**। निकटे गदया युद्धं भवतीति शीघ्रं मरणपर्यवसायी। तथापि भगवान्मारयिष्यतीत्याशङ्क्य मारणार्थ**मिलां पद्भ्यां प्रकम्पयन्** इत्युक्तम्। **महाराजेति** तादृशो हन्यत इति बोधितम्। **महासत्त्व** इति तस्य युद्धार्थं प्रवृतौ साहसम् ।।२।।

व्याख्यार्थ—जब मरना ही इच्छित है तो सहायकों की कौनसी आवश्यकता है ? अतः इकल्ला ही आया, उस पर भी प्यादल आया, मनमें क्रोध का जोश न होवे तो कदाचित् (शायद) लौट जाए इस पर कहते हैं कि महान् क्रोध से पूर्ण होकर आया था, इसलिए लौटने का विचार

करना ही व्यर्थ है। शीघ्र मरने के लिए युद्ध सामीप्य में होती है, अतः गदा ले आया जिससे युद्ध समीप हो, तो भी भगवान् न मारे, इसलिए पृथ्वी को पैरों से कम्पाता हुआ आ रहा था। हे महाराज ! इस सम्बोधन से यह सूचित किया है कि भगवान् ऐसे का भी वध नहीं करते हैं, 'महासत्त्व' विशेषण से यह बताया है कि महान् बलिष्ठ होने के कारण ही युद्ध के लिए प्रवृत्त हुआ है ॥२॥

आभास—ततो भगवान् धर्मयुद्धमेव कर्तव्यमिति स्वयमपि तथाविधो जात इत्याह **तं तथायान्तमालोक्येति** ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् ने विचार किया, कि धर्मयुद्ध करना चाहिए, इसलिए आप भी वैसे ही हुवे वह 'तं तथा' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**तं तथायान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः ।**
अवप्लुत्य रथात्कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात् ॥३॥

श्लोकार्थ—इस तरह आते हुए उस (दन्तवक्र) को देख भगवान् शीघ्र ही रथ से उतर कर गदा ले जैसे वेला (तट या किनारा) समुद्र को, वैसे उसको रोका ॥३॥

सुबोधिनी—**सत्वर** इति आगमनेन तस्य क्लेशाभावार्थमुक्तम् । **अवप्लुत्येति,** दर्शनानन्तरं न कोऽपि विलम्बः कृत इति वक्तुं **रथादुत्प्लवनमुक्तम्** । यतः **कृष्णः** कालरूपः । अतः सर्वयादवमारणार्थं प्रवृत्तं **सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात्** प्रतिधानं कृतवान् ॥३॥

व्याख्यार्थ—'सत्वर' शब्द से यह बताया है कि आने से कोई क्लेश नहीं हुआ। भगवान् ने उसको देखा, देखने के बाद कुछ भी देरी नहीं की। यह दिखाने के लिए कहा, कि देखते ही रथ से उतर पड़े, क्योंकि इस समय कृष्ण काल रूप थे, अतः सर्व यादवों के नाश वास्ते प्रवृत्त उस (दन्तवक्र) को ऐसे रोक लिया जैसे समुद्र को वेला (तट या किनारा) रोकती है ॥३॥

आभास—शीघ्रं भगवति समागते कदाचिद्भगवान् शाल्वस्य अयं पदातिः कश्चिदिति अवहेलया मुक्तिं न दद्यादिति स्वप्रयोजनप्रवृत्तिस्वरूपाणि निर्दिशति **गदामुद्यम्य कारूष** इति ।

आभासार्थ—भगवान् शीघ्र आए, कदाचित् इसको शाल्व का यह कोई पदाति (पैदल) है, यों समझ मुक्ति न देवें, इसलिए अपने प्रयोजन के स्वरूपों का निर्देश करते हैं 'गदामुद्यम्य' श्लोक में ।

श्लोक—**गदामुद्यम्य कारूषो मुकुन्दं प्राह दुर्मदः ।**
दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः ॥४॥

श्लोकार्थ—मदोन्मत्त दन्तवक्र गदा उठाकर भगवान् को कहने लगा कि तूं आज मेरी दृष्टि में आया वह बहुत अच्छा हुआ ॥४॥

सुबोधिनी—स हि करूषदेशाधिपतिः । **मुकुन्दं** मोक्षदातारम् । **गदामुद्यम्य** स्वाधिकारं प्रदर्शयन् द्वारपालकत्वं वा ख्यापयन् उत्तमाधिकारी, स्नेहेनैव सायुज्यं प्राप्तुं योग्यः विरोधेन प्राप्तुमिच्छतीति **दुर्मदः** । अत एव विरुद्धमाह **दिष्ट्या दिष्ट्येति** । एतावानर्थः उभयत्रापि तुल्यः । **मम दृष्टिपथं गत** इति यदेतन्मम भाग्येन यस्तु मनोरथप्रकारेणान्विष्यते स जात इति ॥४॥

व्याख्यार्थ—वह (दन्तवक्र) करूष देश का अधिपति है, मुकुन्द (मोक्ष देने वाले) को कहने लगा, अपने अधिकार को दिखाने के लिए अथवा अपना द्वारपालकपन प्रसिद्ध करते हुए अपने को अधिकारी बताना था, जिससे स्नेह से ही सायुज्य पाने के योग्य था किन्तु मदोन्मत्त होने से गदा उठाकर सामने आया जिससे समझा जाता है कि स्नेह नहीं, किन्तु विरोध से सायुज्य पाना चाहता है, अतएव विरुद्ध शब्द कहने लगा कि 'दिष्ट्या-दिष्ट्या' इतना अर्थ दोनों तरफ समान है, मेरे भाग्य से मेरे दृष्टि पथ पर आ गए, जिसको मैं मनोरथ कर ढूंढ रहा था वह आप सामने आ गए यह मेरा भाग्य ही है ॥४॥

आभास—आत्मानं स्थापयन् भगवत्संबन्धमाह **त्वं मातुलेय इति** ।

आभासार्थ—अपने को प्रकट करता हुवा भगवान् से सम्बन्ध बताता है 'त्वं मातुलेयो' श्लोक में ।

श्लोक—**त्वं मातुलेयो नः कृष्ण मित्रध्रुङ्मा जिघांससि ।**
अतस्त्वां गदया मदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ॥५॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! तुम हमारे मामे के पुत्र हो और मित्रद्रोही भी हो। हे मन्द ! मुझे मारना चाहते हो, इसलिए मैं वज्र जैसी इस गदा से तुझे मारूंगा ॥५॥

सुबोधिनी—नोस्माकं शिशुपालादीनाम्, **मातुलेयः** सुतरां नोस्माकम् । **कृष्णेति** स्नेहात्संबोधनम् । **मित्रध्रुगित्युपालम्भः** । वस्तुतस्तु कृष्णमित्राणि द्रोग्धीति सर्वसखा शिक्षक इत्युक्तम् । अत एव **मां जिघांससि** । अहमपि कृष्णमित्रमिति अपराधव्यतिरेकेण न मारयिष्यतीति प्रथममहमपराधं करिष्यामीत्याह **अतस्त्वां गदयेति** । **अमन्देति** छेदः । **हनिष्ये** प्राप्स्यामि । **गदया** सुषुम्णया । **वज्रकल्पया** । यथा वज्रेण वृत्रस्त्वां प्राप्तवान् ॥५॥

व्याख्यार्थ—तुम हमारे अर्थात् शिशुपाल आदि के मामे के पुत्र हो, कृष्ण ! यह सम्बोधन स्नेह के कारण दिया है। 'मित्रध्रुक' मित्र से द्रोह किया है यों कह कर उपालम्भ (ताना) दिया है, वास्तव में तो इस पद के कहने के भाव यह हैं कि 'कृष्णमित्राणि द्रोग्धि' इति कृष्ण मित्रध्रुक् अर्थात् सर्व के सखा तथा शिक्षक हो अतएव मुझे मारते हो, मैं भी कृष्ण का मित्र हूँ इसलिए बिना अपराध के तो नहीं मारेंगे, इसलिए पहले मैं अपराध करूँगा (करता हूं) इस वास्ते तुझे वज्र समान गदा से मारूँगा, अर्थात् प्राप्त करूँगा। जैसे वृत्र ने वज्र से तुझे प्राप्त किया, 'मन्द' के स्थान पर 'अमन्द' पदछेद करना, हे अमन्द ! हे सयाने ! अर्थात् आप सब जानते हैं ॥५॥

श्लोक—**तर्ह्यनृण्यमुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः ।**
बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देहचरं यथा ॥६॥

श्लोकार्थ—हे मूर्ख ! देह में प्रेमवाला भी, देह में उत्पन्न रोग को नाश करता है, तब स्वस्थ हो जाता है । वैसे ही मैं भी, मित्र में प्रेम होते हुए भी बन्धुरूप शत्रु का नाश करूंगा । तब मित्रों के ऋण से उऋण होकर स्वस्थ हो जाऊंगा ।।६।।

सुबोधिनी—एवं सति 'तत्रानृणो भूतबलिं विधाय' इतिवत् **मित्राणामनृणो** भविष्यामि । यतोऽहं **मित्रवत्सलः** त्वं वा अमित्रवत्सलः दैत्येस्वपि कृपाकरणात्, मित्रवत्सलो वा सर्वेषामेव मित्रत्वात् । किं कृत्वा अनृणो भविष्यसीत्याकाङ्क्षामाह **बन्धुरूपमरिं हत्वेति** । बन्धुरूपो देहः बन्धो रूपमिव रूपं यस्य हितकर्तृत्वात् वस्तुतस्त्वरिः 'सृष्ट्वास्य बीजम् ।' इति न्यायात् । नन्वात्मतया स्वीकृतः कथं मारणीय इति चेत्तत्र दृष्टान्तमाह **व्याधिं देहचरं यथेति** । अयं स्तुतिपक्षो व्याख्यातः । निन्दापक्षस्तु स्पष्टः । बन्धुरूपं मातुलपुत्रत्वात् मारकत्वादरिम् ॥६।।

व्याख्यार्थ—जब यों होगा तब, जैसे भूतबलि देने से मनुष्य उऋण होता है वैसे ही मैं भी मित्रों के ऋण से उऋण बनूँगा । क्योंकि मैं मित्र वत्सल हूँ । तुम अमित्र वत्सल हो, कारण कि दैत्यों पर भी कृपा करते हो, अथवा मित्र वत्सल हो । क्योंकि आप किसी को शत्रु नहीं समझते, सबको मित्र ही जानते । तू क्या करके उऋण होगा ? जिसके उत्तर में कहता है कि यह अपना देह बन्धु रूप दीखती है क्योंकि हित करती है, वास्तविक तो 'सृष्ट्वास्य बीजम्' इस न्याय से शत्रु है जिसको अपनाया गया है उसको कैसे मारा जाएगा, इसका उत्तर दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि 'व्याधिं देहचरं यथा' जैसे शरीर में उत्पन्न रोग को नाश किया जाता है वैसे ही अपनेपन से अपनाया हुआ यदि शत्रु दुःखदायी होता है तो उसका भी नाश करना चाहिए यह स्तुति पक्ष की व्याख्या की, निन्दा पक्ष तो स्पष्ट है, मातुल पुत्र होने से बन्धुरूप है मारक होने से अरि है ।।६।।

श्लोक—एवं रुक्षैस्तुदन्वाक्यैः कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम् ।
गदया ताडयन्मूर्ध्नि सिंहवद्व्यनदच्च सः ।।७।।

श्लोकार्थ—जैसे अंकुशों से हाथी को पीड़ित किया जाता है वैसे ही रूखे वचनों से श्रीकृष्ण को पीड़ित करते हुए दन्तवक्र ने श्रीकृष्णचन्द्र के शिर पर गदा का प्रहार किया बाद में सिंह के समान गर्जना की ।।७।।

सुबोधिनी—निन्दायां रूक्षता । **तुदन्** मर्मभेदं कुर्वन् । **कृष्णं** तुदन्निति स्तुतौ स्वदोषं दूरीकुर्वन् । **तोत्रं** अङ्कुशपृष्ठभागस्तेन यथा अग्रे गमनार्थं प्रेर्यते द्विपः एवं कृष्णोऽपि शीघ्रं कर्तुं मारयितुं मृत्युं वा दातुं प्रेर्यत इति । एवं वाक्यापराधं कृत्वा कायिकापराधं कृतवानित्याह **गदयेति** । **मूर्ध्नि** समीपे सुषुम्णया ब्रह्मरन्ध्रभेदनं वा ततः **सिंहवद्व्यनत्** । आत्मानं कृतार्थं मन्यमानः यतः **स** पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तः शूरो वा ।।७।।

व्याख्यार्थ—निन्दा में रूखापन होता है, निन्दा के वाक्यों से मर्म स्थानों को मानो तोड़ डालता था । कृष्ण की निन्दा से मानो स्तुति से दोषों का नाश करता था । जैसे अंकुश के पृष्ठ भाग से हस्ती को शीघ्र गमन के लिए प्रेरणा की जाती है, वैसे ही कृष्ण भी शीघ्र मारने के लिए

तैयार हो जावे, इसलिए निन्दा आदि द्वारा प्रेरे जाते हैं । इस प्रकार वाणी से अपराध कर कायिक अपराध करने लगा वह कहते हैं-गदा मस्तक पर सुषुम्ना के समीप लगाई अथवा ब्रह्मरन्ध्र का भेदन किया, पश्चात् सिंह के समान गर्जना करने लगा, कारण कि अपने को कृतार्थ समझने लगा क्योंकि वह पूर्व कहे हुए प्रकार से भक्त अथवा शूरवीर है ।।७।।

श्लोक— **गदया निहतोप्याजौ न चचाल यदूद्वहः ।**
कृष्णोऽपि तमहन्गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे ।।८।।

श्लोकार्थ—गदा के लगने पर भी यदुश्रेष्ठ वहां से विचलित न हुए, श्रीकृष्ण ने भी कौमोद की भारी गदा से उसकी छाती पर प्रहार किया ।।८।।

सुबोधिनी—एतावता स्वकृतकृत्यता जातेति **गदया निहतो** वा **आजौ** क्रोधो भवतीति प्रहारस्य क्रूरत्वं दर्शितम् । **यदूद्वह** इति यादवलीला स्वीकृतेति तथा वर्ण्यत इत्यर्थः । एवमपराधं तस्योक्त्वा ततोऽपराधशान्त्यर्थं भावतः कृपामाह **कृष्णोऽपीति** । **गुर्व्येति** साधनमाहात्म्यम् । **कौमोदक्येति** स्वकीयया प्रसिद्धया । तेन **मोक्षः** सुप्रसिद्धः । तत्रापि **स्तनान्तरे**, यथा जीवस्य निर्गमने षट्चक्रभेदनक्लेशो न भवेत् ॥८।।

व्याख्यार्थ—दन्तवक्र ने इससे अपने को कृतकृत्य समझा गदा के प्रहार से क्रोध होगा, इससे प्रहार की क्रूरता सूचन की है । 'यदूद्वह' पद से यह सूचन किया है कि श्रीकृष्ण ने अब यादव लीला का स्वीकार किया है, इस प्रकार उसके अपराध का वर्णन कर, बाद में उसके अपराध की शान्ति के लिए भगवान् की कृपा का वर्णन करते हैं कि' कृष्णोऽपि' कृष्ण ने भी अपनी प्रसिद्ध कौमोद की गदा से छाती पर प्रहार किया, प्रहार का साधन गदा का माहत्मय बताने के लिए 'गुर्वी' विशेषण दिया है अर्थात् वह गदा बहुत भारी थी, ऐसी गदा के प्रहार से मोक्ष होना तो प्रसिद्ध है ही । भगवान् की कृपा से मोक्ष तो हुआ किन्तु मरने के समय जो षट्चक्र भेदन की क्रिया से दुःख होता है वह भी दन्तवक्र को न होवे इसलिए भगवान् ने गदा का छाती पर प्रहार किया जिससे प्राण बिना क्लेश से निकल कर मुक्त हो गया ।।८।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **गाढनिर्भिन्नहृदय** इति ।

आभासार्थ—उसके अनन्तर जो कुछ हुआ वह 'गाढ निर्भिन्न' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**गाढनिर्भिन्नहृदय उद्वमन् रुधिरं मुखात् ।**
प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन्धरण्यां न्यपतत् व्यसुः ।।९।।

श्लोकार्थ—गदा के लगते ही उसका हृदय फट गया और मुंह से रुधिर को उगलते हुए वह दैत्य पृथ्वी पर केश, बाहु और पांव पसार कर प्राणहीन होते ही गिर पड़ा ।।९।।

सुबोधिनी—मुखतो रुधिरोद्वमनं वाक्पारुष्य-दोषपरिहारार्थम् । ततो दयोत्पत्त्यर्थमिव **केशान् बाह्वङ्घ्रींश्च प्रसार्य, धरण्यां** भगवच्चरणारविन्दे **विशिष्टासुर्विगतासुर्वा न्यपतत्** । आदौ तत्रैव समवनयनम्, द्वितीये भोगापेक्षाभावात् प्राणानां परित्यागः ।।९।।

व्याख्यार्थ—मुँह से रुधिर निकलने का कारण यह था कि खून निकलने के साथ उसके पाप[1] भी बाहर निकल रहे थे, पश्चात् दया की उत्पत्ति हो अर्थात् मुझ पर दया होवे इसी तरह व इसलिए केश, भुजा और चरण पसार कर वहाँ पृथ्वी पर स्थित हुआ, जहां भगवान् के चरणारविन्द थे प्राण निकल जाने से वहाँ ही गिर गया जिससे आदि में वहां ही भगवान् से सायुज्य हो गया, द्वितीय पक्ष यह है कि अब भोग की अपेक्षा का अभाव था, इसलिए प्राणों का त्याग कर दिया, अर्थात् सर्व कर्म भस्म हो जाने से फिर प्राणों को प्राप्त नहीं करना था क्योंकि प्रभु कृपा से उसको भगवत्सायुज्य की प्राप्ति हुई ।।९।।

आसास—तस्तस्य सायुज्यं जातमित्याह **ततः सूक्ष्मतरंज्योतिरिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् उसको सायुज्य मुक्ति प्राप्ति हुई, यह 'ततः सूक्ष्म' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम् ।**
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप ।।१०।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! जैसे शिशुपाल का तेज भगवान् में प्रविष्ट हुआ, वैसे दन्तवक्र का अति सूक्ष्म तेज भी सब लोगों के देखते हुए भगवान् में प्रवेश कर गया ।

सुबोधिनी—आत्मज्योतिः कृष्णं भगवच्चरणारविन्दम् । अत्र सर्वे साक्षिण इत्याह **पश्यतामिति** । **यथा चैद्यवध** इति चैद्यवधे तत्तेजः दशदिशो भासयद् भगवन्तं प्रविवेश, एवमयमपीत्यर्थः ।।१०।।

व्याख्यार्थ—दन्तवक्र की ज्योति 'कृष्णं' भगवान् के चरणारविन्द में जैसे शिशुपाल के वध के समय में उसकी ज्योति दश दिशाओं को प्रकाशित करती हुई भगवान् में प्रविष्ट हुई, वैसे ही दन्तवक्र की अत्यन्त सूक्ष्म ज्योति भी भगवान् के चरणारविन्द में प्रवेश कर गई, जिसके सब साक्षी हैं यों बताने के लिए 'पश्यतां सर्व भूतानां' पद कहा है जिसका अर्थ है, सर्व प्राणियों के देखते हुए ज्योति ने भगवान् के पाद कमलों में प्रवेश किया ।।१०।।

आभास—तस्य सायुज्यं दृष्ट्वा तद्भ्राता विदूरथोऽपि तथा कर्तुं प्रवृत्त इत्याह **विदूरथस्त्विति** ।

१—वाणी से अपशब्द बोलने से जो दोष व पाप हृदय में उत्पन्न होकर रह गये थे वे सब नष्ट हो गए ।

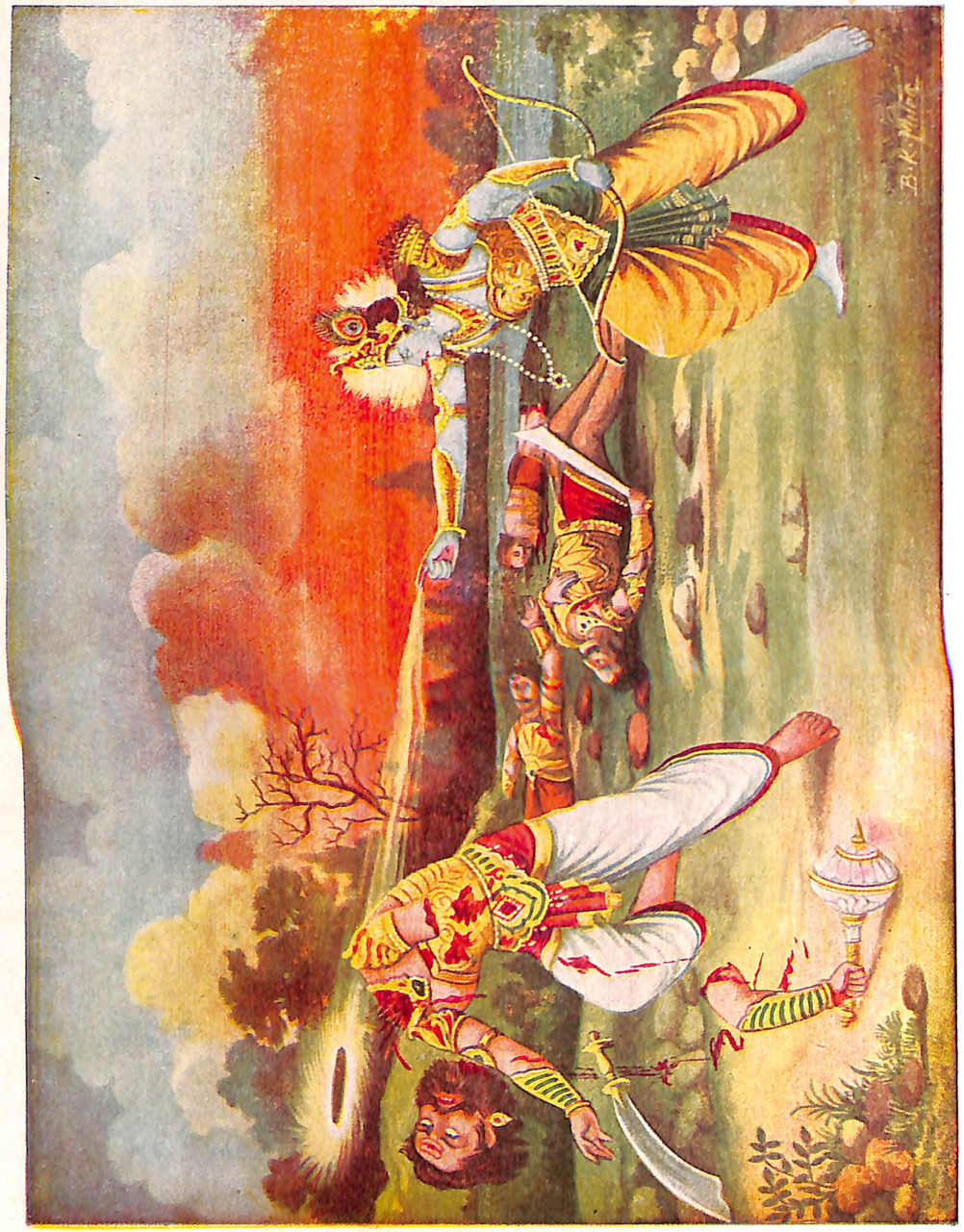

दन्तवक्त्र और विदूरथका उद्धार

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

आभासार्थ—उसकी सायुज्य मुक्ति देख कर उसका भ्राता विदूरथ भी यों करने लगा, जिसका वर्णन 'विदूरथस्तु' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः ।**
आगच्छदसिचर्मभ्यामुच्छ्वसंस्तज्जिघांसया ॥११॥

श्लोकार्थ—भ्राता के शोक से व्याप्त, दन्तवक्त्र का भाई विदूरथ भगवान् को मारने के विचार से हाँफता हाँफता ढाल तलवार लेकर आया ॥११॥

सुबोधिनी—अक्षरच्युतकालंकारः। **विदूरथ** इति विकटो भवति दूरादेव रथ इति माहात्म्यम्। **तद्भ्राता** दन्तवक्त्रभ्राता। **भ्रातृशोकेन परितः** प्लुतः मग्नः सन्, **असिचर्मभ्यामुच्छ्वसन्नागतः**। अनेन सर्प इव तस्य क्रोधो निरूपितः। **तज्जिघांसयेति** आगमनाभिप्रायः। भ्रान्तोऽपि प्रवर्तकः ॥११॥

व्याख्यार्थ—यहां अक्षरच्युत अलङ्कार है इसके नाम से ही इसका माहात्म्य प्रकट होता है, दूर से ही जिसका रथ विकट दीखने में आता है वह विदूरथ 'तद्-भ्राता' उसका अर्थात् दन्तवक्त्र का भाई भ्राता के शोक नद में डूबा हुआ, ढाल तलवार ले हाँफता हुआ आया, यों कहने से, सर्प के समान क्रोध का निरूपण किया, क्यों आया? तो कहते हैं कि 'तज्जिघांसया' उसको अर्थात् श्रीकृष्ण को मारने की इच्छा से आया, यद्यपि भ्रम में पड़ने से व्याकुल था तो भी मारने के लिए प्रवृत हुआ ॥११॥

श्लोक—**तस्य चापततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना ।**
शिरो जहार राजेन्द्र सकीरीटं सकुण्डलम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे राजेन्द्र! इस विदूरथ के आते ही श्रीकृष्ण ने तीक्ष्ण धार वाले चक्र से, किरीट कुण्डल सहित इसका सिर काट डाला ॥१२॥

सुबोधिनी—ततः स भृत्यसंबन्धीति **आपतत** एव प्रहारात्पूर्वमेव **चक्रेण शिरो जहार**। **क्षुरनेमिनेति** स्वालौकिकसामर्थ्याभावः। **जहार** दूरीकृतवान्। **सकुण्डलं सकिरीटमिति** देवाधिष्ठानं तेन मुक्तियोग्यता निरूपिता ॥१२॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् वह भृत्य का सम्बन्धी था, इसलिए आते ही अर्थात् प्रहार करने से पहिले ही चक्र से उसका शिर काट डाला, कैसे काटा? तो कहते हैं कि तीक्ष्ण धार वाले चक्र से, यों कहने से यह बतलाया कि भगवान् ने यहाँ अपना अलौकिक सामर्थ्य प्रकट नहीं किया, 'जहार' दूर कर दिए अर्थात् धड़ से दूर कर दिया। किरीट और कुण्डल सहित शिर कहने से उसका देवाधिष्ठानपन बताया, उससे मुक्ति की योग्यता कही ॥१२॥

आभास—मारितान् सात्त्विकराजसतामसान् उपसंहरति **एवं सौभमिति**।

आभासार्थ— मारे हुए सात्विक राजस और तामसों के चरित्र की 'एवं सौभं' श्लोक से समाप्ति करते हैं।

श्लोक—**एवं सौभं च शाल्वं च दन्तवक्त्रं सहानुजम् ।**
हत्वा दुर्विषहैरन्यैरीडितः सुरमानवैः ।।१३।।

श्लोकार्थ—इस तरह सौभ, शाल्व, छोटे भाई समेत दन्तवक्त्र को और जो अजेय शूरवीर थे उनको भी साथ में मार डाला, तब देव और मनुष्य भगवान् की स्तुति करने लगे ।।१३।।

सुबोधिनी— **चकार**स्तत्सेनापरिग्रहार्थः । शाल्वे **चकार**: तन्मायादेवतावरनाशार्थः । दन्तवक्त्रो विदूरथसहितः **दुर्विषहैरन्यैः** शूरैः सह तेपि मारिता इति । **हत्वा** स्थित **ईडित** इति क्रियाध्याहारोऽपि अर्थाद्भवति । **सुरैर्मानवैश्च दुर्विषहैरन्यैरिति** यादववाचकत्वं वा ।।१३।।

व्याख्यार्थ—'च' शब्द सेना परिग्रह के लिए दिया गया है, शाल्व के साथ चकार दिया है जिसका आशय है कि उसके माया देवता का वर नाश करना था, विदूरथ के साथ दन्तवक्त्र और जो अजय अन्य शूरवीर थे उनके साथ वे भी मारे गए, मार कर खड़े हो गए तब उनकी स्तुति की गई, उस प्रकार यहाँ यह क्रियाध्याहार भी होता है अथवा ऊपर के सुरैः मानवैश्च दुर्विषहैः अन्यैः' ये यादव वाचक भी हो सकते हैं ।।१३।।

श्लोक—**मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः ।**
अप्सरोभिः पितृगणैर्यक्षैः किंनरचारणैः ।।१४।।
उपगीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः ।
वृतश्च वृष्णिप्रवरैर्विवेशालंकृतां पुरीम् ।।१५।।

श्लोकार्थ—मुनि, सिद्ध, गन्धर्व विद्याधर, बड़े बड़े नाग, अप्सरा, पितृगण, यक्ष, किन्नर और चारण ये सब भगवान् की विजय को गा गाकर फूलों की वर्षा कर रहे थे, तब भगवान् यादवों के साथ शोभायमान पुरी में प्रविष्ट हुए ।।१४-१५।।

सुबोधिनी—तथा **मुनि**प्रभृतिभिरपि । **कुसुमैरभिवर्षित** इत्यन्तं महती स्तुतिः भगवतो युद्धलीला समाप्यत इति संतोषात्कृता, श्रोतृऋणां युद्धलीलाभिनिवेशो भवत्विति । ततो भगवतः पुरप्रवेशमाह **वृतश्च वृष्णिप्रवरै**रिति । हत्वा स्तुतः **विवेशे**ति तस्य क्रियात्रयं निरूपितं त्रिगुणम् ।।१४।। ।।१५।।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने युद्ध लीला समाप्त की, जिससे मुनि और सिद्ध आदिको को सन्तोष हुवा जिससे, उन्होंने भगवान् के विजय को गाकर पुष्पों की वर्षा आदि से महती स्तुति की जिससे श्रोताओं को युद्ध लीला में अभिनिवेश होवे, पश्चात् भगवान् अपनी पुरी में पधारे जिसका वर्णन

करते हैं। यादवोत्तमों से घिरे हुए भगवान् उन दैत्यों को मारकर, और देव मनुष्यों से स्तुत होते हुए अलङ्कृत स्वपुरी में प्रविष्ट हुए। १-हत्वा २-स्तुतः ३-विवेश इन तीन क्रियाओं से तीन गुण प्रकट किए ।।१४-१५।।

आभास—भगवतः क्रियालीलामुपसंहरन् दोषाभावमाह **एवं योगेश्वर** इति ।

आभासार्थ—भगवान् की क्रिया लीला का उपसंहार करते हुए 'एवं योगेश्वरः' श्लोक में दोषों का अभाव बताते हैं—

श्लोक—**एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवान् जगदीश्वरः ।**
ईयते पशुदृष्टीनां निर्जितो जयतीति सः ।।१६।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार योगेश्वर व जगदीश्वर श्रीकृष्ण भगवान् सदा जय ही पाते हैं पर किसी समय पशु बुद्धि यों प्रतीत करते हैं कि भगवान जरासन्ध से हार गए।

सुबोधिनी— **योगेश्वर**त्वात् ये योगभ्रष्टास्ते मोचिता इति एकं प्रयोजनम् । **कृष्ण**त्वाद्भूभारो हृत इत्यपरम्, **भगवानिति** सामर्थ्यम्, **जगदीश्वर** इत्यावश्यकत्वम् । एवं क्रिया करणे हेतूनुक्त्वा लौकिकबुद्ध्या प्राप्तान् हेतून् निन्दति **ईयते पशुदृष्टीनामिति** । पशुदृष्टिभिर्**निर्जितो भगवान् जयतीति ईयते** ज्ञायते, कदाचि**न्निर्जितः** कंचि**ज्जयतीति** । एतदुभयमपि पूर्वापरानुसंधानरहितानामेव । त एव पशवः, यतः **स** पुरुषोत्तमः । न तु केनाप्यंशेन भावान्तरं प्राप्त इत्यर्थः । अत्र भगवतः शस्त्रसंन्यासः पुराणान्तरे निरूपितः । **स** एवात्रोपसंहारेणापि सूचितः ।।१६।।

व्याख्यार्थ—'योगेश्वर' विशेषण से बताया है, कि जो योगभ्रष्ट थे उनको संसार से उबार कर मुक्ति दी, यह एक प्रयोजन कहा 'कृष्ण' पन से दिखाया कि भूभार हरण कार्य किया, यह दूसरा प्रयोजन कहा, भगवान् शब्द से सामर्थ्य प्रकट किया, 'जगदीश्वर' कह कर यह सूचित किया है कि ये सब कार्य आपको ही करने हैं (थे) इस प्रकार क्रिया के करने के हेतुओं को बता कर लौकिक बुद्धि से जो हेतु कहे जाते हैं उनकी निन्दा करते हैं। जिनकी दृष्टि पशुओं (मूर्खों-अज्ञों) जैसी हैं वे कहते हैं, कि देखा जाता है कि भगवान् कभी हार जाता है कभी किसी को जीतता है इस प्रकार दोनों तरह का कहना उनका है जो आगे पीछे का विचार करना जानते ही नहीं वे ही पशु हैं। अतः (क्योंकि) वे पुरुषोत्तम हैं, इसलिए किसी भी अंश से अन्य भाव को प्राप्त नहीं होते हैं, इस प्रकार तात्पर्य है, भगवान् का शस्त्र संन्यास अन्य पुराण में निरूपण किया है वह ही यहां उपसंहार से भी सूचित किया है ।।१६।।

आभास—एवं भगवतः क्रियाशक्तिमुपसंहृत्य बलभद्रस्यापि कीर्तिसिद्ध्यर्थं धर्मक्रियामाह **श्रुत्वा युद्धोद्यम**मिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् की क्रिया शक्ति का उपसंहार कर "श्रुत्वा युद्धोद्यमं' श्लोक में बलभद्र की कीर्ति सिद्ध करने लिए उनके धर्म की क्रिया को कहते हैं।

श्लोक—**श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः ।**
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥१७॥

श्लोकार्थ—कौरव और पाण्डुवों के युद्ध का उद्यम सुनकर मध्यस्थ बलदेवजी तीर्थ यात्रा का मिस कर द्वारका से रवाना हुए ॥१७॥

सुबोधिनी—अनर्थपर्यवसानं तत्परित्याग एव आदौ धर्मः तत्रापि तद्व्याजेन तीर्थाचरणं सुतरामेव । अतो **युद्धोद्यमं श्रुत्वा** भगवान्पाण्डवपक्षपातीति स्वस्य कौरवपक्षपाते अन्योन्यमेव विरोधो भवतीति **तीर्थाभिषेकव्याजेन,** वस्तुतस्तीर्थयात्रा नाभिप्रेतेति निमित्ताभावात्तद्व्याजेनैव । उभयो**र्मध्यस्थः प्रययौ,** तीर्थदेशानेव । **किलेति** प्रमाणम् । जीववत्तस्य तीर्थाचरणं भगवत्त्वविरोधीति स्वतः अनुक्त्वा किलेत्युक्तं हृदये व्याजेऽपि लोकप्रतीत्यर्थम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—जहां अनर्थों का नाश होता है और अनर्थों का पूर्णतया त्याग करना ही प्रथम धर्म है, वहां भी उस मिससे तीर्थों पर जाना ही चाहिए अतः युद्ध का उद्यम सुनकर, श्रीकृष्ण तो पाण्डवों के पक्षपाती हैं और मैं कौरवों के पक्ष में हूँ, इससे दोनों में विरोध जगेगा, इसलिए तीर्थ यात्रा के मिष से द्वारका से निकले । वास्तव में तीर्थ यात्रा करने की इच्छा न थी । द्वारका से बाहर जाने का अन्य कारण न होने से इस मिष से ही निकले किसी की तरफदारी न कर मध्यस्थ होकर सत्य कहूंगा यह मन में विचार कर ही तीर्थों के लिए रवाने हुए, 'किल' निश्चय से अर्थात् यह प्रमाण है । आप भगवान् हैं इसलिए जीव की तरह तीर्थ करना भगवत्व से विरुद्ध है । आपने यह स्वयं प्रकट न कह कर 'किल' शब्द से हृदय में यों कहा, यद्यपि मिष से जा रहे थे किन्तु लोक में तो ऐसी प्रतीति कराई ॥१७॥

आभास—प्रभासे गत्वा संकल्पं कृत्वा ततो निर्गत इत्याह स्नात्वा प्रभास इति ।

आभासार्थ—प्रभास तीर्थ में जाकर सङ्कल्प कर वहां से रवाने हुए यह 'स्नात्वा प्रभासे' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**स्नात्वा प्रभासे संतर्प्य देवर्षिपितृमानवान् ।**
सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥१८॥

श्लोकार्थ—बलदेवजी ने प्रभास में स्नान किया और देव, ऋषि तथा पितर एवं मनुष्यों को तर्पण आदि से तृप्त किया, अनन्तर ब्राह्मणों को साथ में लेकर सरस्वती नदी के प्रवाह के सन्मुख चले ॥१८॥

सुबोधिनी—भगवता सात्त्विकप्रकरणे धर्मः कर्तव्यः स च प्रवृत्त्यात्मकः स धर्मो यज्ञस्तीर्थानि च । तदुक्तम्, 'यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः' इति यज्ञाः कृताः तीर्थानि च पुनस्तत्समानानि च कृतानि तत्र वसुदेवः जीवतीति न स्वतो यागकरणं संभवतीति सुतरां राजसूयादिकरणं ततो भगवान् साहाय्यमेव कृतवान् । बलभद्रस्तु तीर्थयात्रां यज्ञसमानां मन्यत इति तामेव कर्तुं प्रवृत्तः व्याजेन करणं धर्मो न भवतीति पश्चाद्भगवान् निमित्तं संपादयिष्यति अन्यथा अनधिकारिणा कृतमकृतमिति धर्म एव न भवेत् । **प्रभासे** अग्निकुण्डे संगमे वा **स्नात्वा,** ततो **देवर्षिपितृमानवान्** ब्राह्मणभोजनादिना **संतर्प्य** सरस्वतीतीरे तीर एव **प्रतिस्रोतं** यथा भवति तथा **ययौ, ब्राह्मणसंवृत** इति तत्पूर्त्यर्थम् । ब्राह्मणाभ्यनुज्ञाव्यतिरेकेण तीर्थपूर्त्यभावात् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने सात्त्विक प्रकरण में प्रवृत्त्यात्मक धर्म कहा है, वह यज्ञ और तीर्थ हैं । जैसा कि कहा है कि 'यज्ञस्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः' हरि ने यज्ञ और तीर्थ दोनों समान किए हैं । वसुदेवजी जीवित हैं, इसलिए पुत्रों को यज्ञ करने का जैसे अधिकार नहीं वैसे तीर्थ करने का भी अधिकार नहीं है । राजसूय यज्ञ हुआ, उसमें भगवान् ने सहायता की है । बलभद्रजी तीर्थों को भी यज्ञ के समान समझते हैं तो, फिर उनके करने में प्रवृत्त क्यों हुवे ? तो कहते हैं कि यद्यपि यों तीर्थ यात्रा मिष से करनी पड़ी है, वह यात्रा धर्मरूप न होगी, किन्तु भगवान् तीर्थ यात्रा करने का पीछे निमित्त उत्पन्न कर लेंगे, यदि भगवान् निमित्त न बनावें तो अनधिकारी का किया हुआ कर्म न करने के समान है इसलिए वह धर्म नहीं हो सकता है । प्रभास में अग्निकुण्ड में अथवा सङ्गम में स्नान कर, पश्चात् देव, ऋषि, पितर और मनुष्यों को ब्राह्मण भोजन आदि से तृप्त कर सरस्वती के किनारे किनारे चलते स्रोत के सम्मुख जैसे हो वैसे जाने लगे, ब्राह्मणों को साथ में लिया था क्योंकि बिना ब्राह्मणों की आज्ञा के तीर्थ कर्म की सम्पूर्णता नहीं होती है ॥१८॥

श्लोक—**पृथूदकं बिन्दुसरस्त्रितकूपं सुदर्शनम् ।**
विशालं ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—पृथूदक, बिन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शन, विशाल ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ, प्राची सरस्वती ॥१९॥

सुबोधिनी—यद्यपि प्रतिस्रोतोगमने क्रमेण **पृथूदकादी**नि तीर्थानि न सन्ति तथापि तीर्थमाहात्म्यं पुरस्कृत्य तेषां गणना तस्मिन् कल्पे वा तथा संनिवेशः । पृथूदकादीनि षट् तीर्थानि सर्वत्र **प्राची सरस्वती** एवं प्लक्षजाता **सरस्वती** यावत् ॥१९॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि प्रवाह के सामने किनारे किनारे जाते हुए पृथूदक आदि तीर्थ क्रमशः नहीं हैं, तो भी, तीर्थ माहात्म्य को लेकर उनकी गणना की है, अथवा उस कल्प में इस प्रकार तीर्थ होंगे, प्रथूदक आदि छः तीर्थ सर्वत्र प्राची सरस्वती के किनारे पर हैं, प्राची सरस्वती का आशय यह है कि जो सरस्वती प्लक्ष से उत्पन्न हुई है ॥१९॥

श्लोक—**यमुनामनु यान्येव गङ्गामनु च भारत ।**
जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासत ॥२०॥

श्लोकार्थ—(उन तीर्थों के अनन्तर) यमुना के तट के प्रवाहानुकूल चलते हुए जो तीर्थ आयें उनमें घूमते-घूमते गङ्गा के प्रवाह के अनुसरण करने वाले तीर्थों में होते हुए नैमिष क्षैत्र में आए जहां ऋषि लोग सत्र कर रहे थे ।।२०।।

सुबोधिनी—ततो **यमुनां** प्राप्य **अनुस्रोतन्या**-येन प्रयागे समागतः । ततो **गङ्गामनु** हरिद्वारपर्यन्तं बद्रिकाश्रमपर्यन्तंवा गतः । ततः पुनः गोमतीतीरे **नैमिषपर्यन्तं** समागतः । तत्र विलम्बे कारणमाह **यत्र ऋषय** इति । **सत्रं** यत्किंचिदासत ।।२०।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् यमुना पर पहुँच अनुस्रोत न्याय से प्रयाग में आए, अनन्तर गङ्गा के बाद हरिद्वार अथवा बद्रिकाश्रम तक गए, बाद में फिर गोमती तट से नौमिषारण्य पहुँचे, वहां समय विशेष लग जाने का कारण यह था कि ऋषि लोगों ने कोई सत्र प्रारम्भ किया था ।।२०।।

आभास—ततो यज्ञातं तदाह **तमागतमभिप्रेत्येति** ।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ वह 'तमागत' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः ।**
अभिनन्द्य यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चार्चयन् ।।२१।।

श्लोकार्थ—दीर्घ सत्र करने वाले मुनि लोग उनको आए हुए देखकर पहिले क्षत्रियानुरूप अभिनन्दन करने लगे, पश्चात् भगवान् जानकर शास्त्रानुसार प्रणाम कर खड़े हो पूजा करने लगे ।।२१।।

सुबोधिनी—**मुनयः** अग्रेस्मात् ज्ञानोपदेशो भविष्यतीत्येष्यज्ञानयुक्ताः । अत एव तदर्थं **दीर्घ**-**सत्रिणः** तस्यागमन**मभिनन्द्य यथान्यायं** यथा क्षत्रियोत्तमे समागते कर्तुं मुचितं तथा कृतवन्तः । ततो भगवद्बुद्धया **प्रणम्य उत्थाय च आर्चयन्** ।।२१।।

व्याख्यार्थ—मुनि यह सोच कर आगे हमको ज्ञान का उपदेश प्राप्त होगा, इस प्रकार के ज्ञान वाले थे, इस कारण से ही उस उपदेश प्राप्ति के लिए दीर्घ काल का सत्र प्रारम्भ किया था, अतः उनके आने का अभिनन्दन कर, नीति के अनुसार उत्तम क्षत्रिय के आने पर जैसा करना योग्य था वैसा किया, पश्चात् भगवान् हैं इस बुद्धि से प्रणाम कर खड़े हो पूजा करने लगे ।।२१।।

आभास—स हि व्याजेन प्रवृत्तः मुख्यस्वाम्यभिप्रायाभावात् भगवच्छास्त्रपर्यालोचनभावाच्च स्मृतिन्यायेन धर्ममप्यधर्मं ज्ञात्वा धर्मस्थाने अधर्मो न युक्त इति तेषां सत्कारफलसिद्ध्यर्थं उपकारमिव कुर्वन् सूतनिराकरणार्थं तं दृष्टवानित्याह **सोऽर्चित इति** ।

आभासार्थ—मुख्य स्वामी के अभिप्राय को बिना जान लेने के और भगवत् शास्त्र के विचार

किये बिना वे (बलभद्र) मिष से यात्रा करने चले थे । स्मृतिन्यायानुसार धर्म को भी अधर्म समझा, धर्म स्थान पर अधर्म करना योग्य नहीं है, इसलिए उनके सत्कार के फल की सिद्धि के लिए मानो उपकार करता हुआ सूत का निराकरण करने के लिए उसको देखने लगे, यह सोऽर्चितः' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः ।**
रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत ।।२२।।

श्लोकार्थ—परिवार (साथ आए हुए ब्राह्मणों) सहित बलदेवजी का पूजन किया, पश्चात् आसन आदि दिया, महर्षि के शिष्य रोमहर्षण नाम वाले सूत को बलराम ने उच्च आसन पर बैठा हुआ देखा ।।२२।।

सुबोधिनी—**सपरीवारः** ब्राह्मणसहितः । **कृतः आसनपरिग्रहो** येन, स्थिरतायै उपदेशयोग्यत्वायाभिमानाय चोक्तम् । **रोमहर्षणः** सूतः । ब्राह्मणानामग्रे उच्चासने स्थितः न चायं बालः यतो **महर्षे शिष्यः** ।।२२।।

व्याख्यार्थ—मुनियों ने बलरामजी का ब्राह्मण सहित पूजन आदि कर आसन आदि बिराजने के लिए दिए, किन्तु बलरामजी ने वहाँ देखा तो महर्षि का शिष्य, रोमहर्षण नाम वाला सूत ब्राह्मणों के सामने उच्चासन पर बैठा है, यह न आयु से बालक है और न विद्या से भी बालक है क्योंकि महर्षि का शिष्य है, उसकी स्थिरता, उपदेश करने की योग्यता और अभिमान देख निम्न वचन कहने लगे ।।२२।।

आभास—एवमपि स्मृतिविरुद्धं करोतीति तस्मिन् क्रोधं कृतवानित्याह **अप्रत्युत्थायिन**मिति ।

आभासार्थ—यह सूत जो कर रहा है वह स्मृतिशास्त्रों के विरुद्ध कर रहा है, इसलिए बलदेवजी क्रोध करने लगे, यह 'अप्रत्युत्थायिनं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**अप्रत्युत्थायिनं सूतमकृतप्रह्वणाञ्जलिम् ।**
अध्यासीनं च तान्विप्रांश्चकोपोद्वीक्ष्य माधवः ।।२३।।

श्लोकार्थ—वह सूत जाति का होकर उन सब ब्राह्मणों से उच्च आसन पर बैठा था, बलदेवजी के पधारने पर न खड़ा हुआ न हाथ जोड़े और न प्रणाम किया जिससे बलदेवजी को क्रोध उत्पन्न हुआ ।।२३।।

सुबोधिनी—वस्तुतो ब्राह्मणातिक्रम एव तस्य दण्डे हेतुः । तथापि ब्राह्मणैः केनचित्प्रकारेण तस्य दोषोऽङ्गीकृतः तस्य मात्सर्यजनकत्वात् अप्रत्युत्थानमेव हेतुं मन्यते । यद्यस्य महत्त्वं

केनापि प्रकारेण जातं तथापि ब्राह्मणोत्तमादधिकं भवति । ब्राह्मणाश्चेदभ्युत्थानादिकं कृतवन्तः तत्रास्याभ्युत्थाने कः सन्देहः अतो नास्मिन् धर्मः मार्गाभावात् । अतः पाषण्डे केनचिल्लोभादिना पुष्टः धर्माभासः गर्वजनकत्वाद् अपकार्येव जात इति । तस्मिन् विद्यमानं धर्मं पाषण्डत्वेनाभिप्रेत्य क्रोधं कृतवान् । **सूत** इति जात्या हीनः । न कृतः प्रह्वणार्थमञ्जलिर्येन । व्रतस्थेनाप्येतावत्कर्तव्यमिति द्वितीयो दोष उक्तः । तृतीयमाह **अध्यासीनं** चेति । आधिक्येनोच्चासनेन ब्राह्मणान् हीनान् कृत्वा आसीनः । ते च **विप्राः** विशेषेण पूरकाः सर्वसुहृदः अतस्तेषां तूष्णींभावो न दोषायेति । स्वयं दण्डाधिकृत इति क्रोधोपपत्तिरुक्ता । **माधवो** मधुवंशोत्पन्नः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—सूत को जो दण्ड मिला, उसमें हेतु ब्राह्मणों का अतिक्रम करना ही है, ब्राह्मणों ने एक प्रकार से ही उसका दोष अङ्गीकार किया, उसको मात्सर्य पैदा न हुआ, अतः न उठना ही हेतु माना जाता है ।

अगर किसी भी प्रकार से इसका महत्त्व हो गया है तो भी क्या यह ब्राह्मणों से उत्तम हो सकता है ? जब ब्राह्मण अभ्युत्थान आदि से सत्कार करते है तब इसको यों करने में कौनसा सन्देह था ? अतः इसमें धर्म नहीं रहा है, क्योंकि धर्म मार्ग के ज्ञान का इसमें अभाव ही है । इस कारण से पाषण्ड होने पर किसी लोभ आदि से पुष्ट जो धर्म दीखता है वह धर्म नहीं है किन्तु धर्माभास ही है, जिससे ही गर्व उत्पन्न हुवा है अतः वह पाषण्ड धर्म, हानिकारक ही हुवा है । उसमें जो धर्म है वह पाषण्डी है इसलिए बलदेवजी क्रोध करने लगे, 'सूत' है इसलिए १–दोष–जाति से भी हीन है, फिर नमस्कार आदि कुछ नहीं किया, २–दोष–व्रत में स्थित हो तो भी उसको इतना करना ही चाहिए, ३–दोष दिखाते हैं कि उत्तम ब्राह्मणों के सामने उच्च आसन पर बैठा है, जिससे दिखाया है कि ब्राह्मण हीन हैं मैं उत्तम हूँ, जब यों है तो वे उत्तम ब्राह्मण चुपकर क्यों बैठे हैं ? वे विप्र हैं सबका हित करने वाले सबके सुहृद हैं, अतः उनका मौन दोष के लिए नहीं है, आप स्वयं दण्ड देने के अधिकारी हैं, इस कारण से ही क्रोध का युक्ति युक्त हेतु कहा है, मधुवंश में उत्पन्न हुए हैं ॥२३॥

आभास—तस्यालोचनमाह **कस्मा**दिति ।

आभासार्थ—उसके आलोचना दर्शन का वर्णन 'कस्माद सा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**कस्मात्साविमान्विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः ।**
धर्मपालांस्तथैवास्मान्वधमर्हति दुर्मतिः ॥२४॥

श्लोकार्थ—यह प्रतिलोम जाति में उत्पन्न सूत, ब्राह्मणों के और धर्मपाल हम लोगों के सामने ऊँचे स्थान पर स्थित आसन पर कैसे बैठा है ? अतः यह दुर्मति वध करने के ही योग्य है ॥२४॥

सुबोधिनी—**असा**विति नास्मिन् तेजो दृश्यत इति ज्ञापितम् । **इमान् विप्रा**निति तेजोदर्शनं, न चायमपि महान् यतः **प्रतिलोमजः**, अनेन ज्ञानाधिक्यादुपविष्ट इति पक्षो निराकृतः । विप्राणामेव ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यमिति भावः । किंच । **धर्मपालांस्तथैवास्मानि**ति ऐहिकभयमामुष्मिकभयं च नास्त्यस्मिन् इति द्वयं निरूपितम् । तत्र दण्डो वध एवेत्याह **वधमर्हतीति** । ननु बोधनीय एवायं किमिति वधः क्रियत इत्याशङ्क्याह **दुर्मतिरिति** दुष्टबुद्धिः, उक्तमपि न ग्रहीष्यति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—'असौ' पद से यह कहा है कि इसमें किसी प्रकार का कोई तेज नहीं है 'इमान् विप्रान्' पद से सूचित करते हैं कि ये ब्राह्मण सर्व सुहृद हैं अतः इनमें तेज का दर्शन हो रहा है, यों भी नहीं है कि यह भी महान् है किन्तु प्रतिलोम जाति का होने से निम्न कक्षा का है, यों कह कर यह बताया है कि इसमें विशेष ज्ञान है इसलिए बिठाया है, इस पक्ष का भी निराकरण किया है अर्थात् विप्रों में ही ज्ञान से बड़प्पन होता है, धर्म पालकों का वैसे ही हम लोगों का भी इसके मनमें भय वा आदर नहीं है जिसका सारांश है कि इसको इस लोक का और परलोक का भी भय नहीं है, ऐसी हालत में इसका दण्ड वध ही है अर्थात् मारने के योग्य है, यदि कहो कि मारते क्यों हो ? इसको ज्ञान देकर समझाओ उसका उत्तर देते हैं, कि यह दुष्ट बुद्धि वाला है अतः समझाने पर भी मानेगा नहीं ।।। २४॥

आभास—नन्वयमनुपासितवृद्धः बालवत्प्रबोधनीय एवेति चेत्तत्राऽह **ऋषेर्भगवतो** भूत्वेति ।

आभासार्थ—इसने वृद्धों की सेवाकर अनुभव प्राप्त नहीं किया है अतः इसको बालक की तरह समझाना चाहिए इस पर 'ऋषेर्भगवतो' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—**ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्योधीत्य बहूनि च ।**
सेतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ॥२५॥

श्लोकार्थ—भगवान् वेदव्यासजी का शिष्य बन कर इसने इतिहास व पुराण सहित सर्व प्रकार के धर्मशास्त्र पढ़े हैं ॥२५॥

सुबोधिनी—**ऋषि**र्मन्त्रद्रष्टा तस्य **शिष्यो**ऽप्यलौकिकार्थज्ञो भवितुमर्हति तत्रापि **भगवतः** सानुभावस्य । न केवलं शिष्यत्वमात्रं किंतु **बहून्यधी**त्येति । चकारादध्यापनाभ्यासौ । वेदाध्ययनं शङ्कितं भविष्यतीति तन्निराकरणार्थं**मितिहास**पुराणा**नी**त्याह, इतिहासश्रवणेन नीतिज्ञानं भवति, तदभावे केवलधर्मेऽप्यनर्थः स्यात् गजेन्द्रवत् । पुराणाध्ययनात्साभिप्रायधर्मज्ञानम् । **धर्मशास्त्रै**: देशकालकुलादिधर्मा आधुधिका अपि सर्व एव ज्ञाता भवन्ति । **सर्वश**: इति तत्तदभिप्रायोऽपि बहूनां मुखादवगतः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—'ऋषि' वह होता है जिसने मन्त्रों के साक्षात् दर्शन किए हैं फिर यह ऋषि तो 'भगवान्' है अर्थात् प्रभावशाली ज्ञानावतार है, उसका शिष्य भी अलौकिक अर्थ को जानने वाला होता है, न केवल मात्र शिष्यपन है, किन्तु बहुत पढा है, पढ़ने के साथ उसका अभ्यास भी किया है, इससे वेद पढा किन्तु उसमें शङ्काएँ रह जायगी, उसके निराकरण के लिए कहते हैं कि इतिहास और पुराण भी पढे हैं, इतिहास के श्रवण (पढ़ने) से नीति का ज्ञान होता है, उसका यदि अभाव होता है तो केवल धर्म में भी गजेन्द्र की तरह अनर्थ होता है और पुराणों के अध्ययन से अभिप्राय

सहित धर्म का ज्ञान होता है तथा धर्म शास्त्रों के पढ़ने से देश, काल और कुल आदि के धर्मों का ज्ञान होता है 'सर्वशः' पद से यह बताया है कि उन पढे हुए इतिहास, पुराण और धर्म शास्त्रों के अभिप्राय भी बहुतों के मुख से प्राप्त किए हैं ।।२५।।

आभास—ननु विद्यया कथमस्य गुणा नोत्पादिताः कथमयमेतादृशो जात इत्याह **अदान्तस्येति** ।

आभासार्थ—इतनी विद्या पाकर भी इसमें सद्गुण क्यों नहीं प्रकट हुए ? यह इस प्रकार का कैसे हुआ ? जिसका उत्तर 'अदान्तस्य' श्लोक में समझा कर देते हैं ।

श्लोक—**अदान्तस्याविनीतस्य वृथापण्डितमानिनः**
न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः ।।२६।।

श्लोकार्थ—जो नट की तरह वेष धरने वाला, अजितेन्द्रिय, अजितात्मा, विनयरहित, वृथा पण्डितमानी है, उसको शास्त्राभ्यास भी गुणकारक नहीं होता है ।।२६।।

सुबोधिनी—विद्या गुणोत्पादिका आश्रय-दोषाभावे भवति । तत्र अजितेन्द्रियत्वं महानाश्रयदोषः 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' इति सहजबहिर्मुखानि, विद्या ह्यन्तर्मुखं कर्तुमिच्छति । तदिन्द्रियाणां प्रतिबन्धे न भवतीति इन्द्रियजयो मृग्यते । किंच । विद्याग्रहणे विद्याबाधकोधर्माभावो हेतुः । विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि । असूय कायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्' इति । **अविनीतस्य** विद्या निर्वीर्येति न गुणजननसामर्थ्यम् । किंच । **वृथापण्डितमानिन** इति । विद्या बुद्ध्या गृहीता सती स्वकार्यं करोति तदभिमानात्तस्याग्रहणमेव यस्तु पाठव्यतिरेकेणापि मन्यते पण्डितोऽहमिति स प्रयोजनाभावात् स्वार्थं विद्यां न ग्रहीष्यत्येव कथं विद्याफलं जनयेत् अतो **न गुणाय भवन्ति** पुराणादीनि । किञ्च **नटस्येवेति** परप्रदर्शनार्थमेव यो विद्यां गृह्णाति तस्य न विद्यातः फलं यथा नटस्य । किंच । **अजितात्मनः** अन्तःकरणाजयाभावे उत्पादिता अपि गुणाः तामसैर्भावैस्तिरोहिता भवन्ति अतोस्य सर्वमेव वर्तत तति दोषपञ्चकसद्भावान्नास्मिन्विद्याफलम् ।।२६।।

व्याख्यार्थ—विद्या गुणों को पैदा करने वाली तब होती है जब विद्यार्थी जिसमें विद्या को आश्रय करता है उसमें दोष नहीं हो, उन दोषों में, इन्द्रियों को न जीतना यह महान् आश्रयदोष है, जैसा कि 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' इस श्रुति में कहा है इससे उनकी स्वाभाविक बहिर्मुखता कही है, विद्या विद्यार्थी को अन्तर्मुख करना चाहती हैं वह अन्तर्मुखता तब हो सकती है जब इन्द्रियाँ उसमें रुकावट करने वाली न होवें, इसलिए विद्या इन्द्रिय जय चाहती है, विद्या प्राप्ति में विद्या में रुकावट डालने वाले धर्मों का अभाव ही कारण है 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि' 'असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्' इति, जों अनम्र है उसमें विद्या आती है तो निर्वीर्य हो जाती जिससे गुणों को उत्पन्न नहीं कर सकती है और विशेष कहते हैं कि विद्या जब बुद्धि से ग्रहण की जाती है तब वह अपना कार्य करती है, उसका अभिमान होने से उसका अग्रहण ही है अर्थात् अभिमान होने से विद्या से प्राप्त गुण व उसके कार्य तिरोहित

हो जाते हैं, जो बिना पढ़ने के भी समझता है कि मैं पण्डित हूँ, वह प्रयोजन के न होने से अपने लिए विद्या का ग्रहण न करेगा ही, फिर विद्या का फल कैसे होगा ? अतः ऐसे पुरुषों को पुराणादि के पठन गुण-जनक नहीं होते हैं किञ्च नट की तरह दूसरों को दिखाने के लिए ही जो विद्या ग्रहण करता है, उसको विद्या से कोई लाभ प्राप्त नहीं होता है जैसे नट को नाट्य करने से कोई फल प्राप्त नही होता है फिर यदि वह अजितात्मा है तो पैदा हुए गुण भी तामस भावों से तिरोहित हो जाते हैं अतः इसमें सब हैं, इसलिए पाँचों दोषों के होने से इसमें विद्या फलीभूत नहीं हुई है ।।२६।।

आभास—नन्वस्य दोषेणायमेव नष्टो भवतु किं तव । यथास्य विनयो धर्मः एव तव क्षमापि तदभावे तवापि दोष एवेत्याशङ्क्याह **एतदर्थं** इति ।

आभासार्थ—वह अपने दोषों से आप ही नष्ट होगा, इसमें आपका क्या जाता है ? जैसे विनय धारण करना इसका धर्म है वैसे आपका भी क्षमा करना धर्म है, यदि आप क्षमा नहीं करते हो तो आप भी दोषी बनोगे, इस प्रकार की शङ्का होने पर 'एतदर्थं' श्लोक में उत्तर देते हैं ।

श्लोक—**एतदर्थो हि लोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः ।**
वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोधिकाः ।।२७।।

श्लोकार्थ—धर्मध्वजी (पाषण्डी-पापी) पुरुषों के नाशार्थ ही मैंने अवतार लिया है, मुझे धर्मध्वजी मारने चाहिए क्योंकि निश्चय से वे ही अधिक पापी हैं ।।२७।।

सुबोधिनी—इदं नाधिकारिभिः कर्तुं शक्यमन्यथाधिकारस्वीकारो व्यर्थः स्यात्, यथा परमहंसानां सर्वातिक्रमसहनं युक्तं एवं राज्ञोऽपि चेत्तदा सर्वनाशः स्यात् । **एतदर्थमेव मम अवतारः** येन धर्मो रक्षितो भवति । अतस्तदेव मम कर्तव्यम् । धर्मे च प्रतिपक्षा निराकर्तव्याः । तत्रा धर्मकारिभ्योपि **धर्मध्वजिनो दुष्टाः** अन्यानपि नाशयन्तीति तेषां दोषाधिक्यमाह **ते हि पातकिनोऽधिका** इति । **ते अधिकाः पातकिनः** साक्षानिषिद्धाचरणमधर्मः, तस्योत्कर्षो महापातकम्,तेभ्योऽपि धर्मध्वजिनः अधिकाः । 'विधर्मः परधर्मश्च' इति वाक्ये एतन्निरूपितम् । उपधर्मास्ते तद्धर्मनिवृत्तीच्छायामपि न निवर्तन्ते नापि प्रतीकारार्थमिच्छामपि कुर्वन्ति अतोस्मिन्विद्यमाने अधर्मानुवृत्तिर्भविष्यतीति वधावश्यकता निरूपिता ।२७।

व्याख्यार्थ—अधिकारियों को यों करना योग्य नहीं है, यदि क्षमा करें तो उनका अधिकारी बनना ही व्यर्थ है, जैसे परमहंस सर्व प्रकार के अतिक्रमणों को सहन करे अर्थात् अतिक्रम करने वाले दोषी को क्षमा करे, यह उनका धर्म है वैसे यदि राजा भी दोष करने वालों को दण्ड न देकर क्षमा करे तो सर्व प्रजा का नाश हो जावे, अतः सर्व प्रजा की रक्षार्थ दुष्टों को दण्ड देने के लिए ही मेरा अवतार है, जिससे ही धर्म रक्षित होता है, अतः वह ही मेरा कर्त्तव्य है, धर्म पालन में अधर्मियों का निराकरण ही करना चाहिए, उसमें अधर्म करने वालों से भी धर्मध्वजी (पाखंडी) दुष्ट हैं क्योंकि अधर्म करने वाले अपने को नष्ट करते हैं, किन्तु धर्मध्वजी दूसरों को भी नाश करते हैं इस कारण से वे अधिक पातकी हैं । शास्त्र में निषिद्ध आचरणों को पालन करना अधर्म है, उस अधर्म का उत्कर्ष महान् पातक है, उनसे भी धर्मध्वजी अधिक पापी हैं इसका निरूपण 'विधर्मः परधर्मश्च'

वाक्य में किया है, वे उपधर्म उनसे निवृत्ति की इच्छा करने पर भी नहीं निवृत्त होते हैं और प्रतीकार के वास्ते इच्छा भी नहीं करते हैं, अतः इसके विद्यमान रहने पर अधर्म बढ़ता ही रहेगा, इसलिए वध की आवश्यकता निरूपण की है ।।२७।।

आभास—ततो यत्कृतवांस्तदाह **एतावदुक्त्वेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् जो किया वह 'एतावदुक्त्वा' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**एतावदुक्त्वा भगवान्निवृत्तोसद्वधादपि ।**
भावित्वात्तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत्प्रभुः ।।२८।।

श्लोकार्थ—यद्यपि बलरामजी ने दुष्टों का वध करना त्याग दिया था तो भी भावी प्रबल है, ऐसा होना ही था, इसलिए इतना कहकर सर्वसमर्थ ने अपने हाथ में धरे हुए दर्भ के अग्र भाग से उसको मार डाला ।।२८।।

सुबोधिनी—स हि सङ्कल्पमारभ्य **असद्वधादपि निवृत्तः** । व्रतिनो वध्यवधोपि निषिद्ध इति **तथापि क्षोभाधिक्यात्, तथैव भावित्वात्,** धर्मपरीक्षार्थं लौकिकं शस्त्रं परित्यज्य तत्रापि स्वहस्तस्थितं सूक्ष्ममेव कुशं मारणार्थं गृहीतवान् । हस्तस्थितौ तस्मिन् क्रियाशक्त्यध्यासः । मरणे तथा मारणे च हेतुः **प्रभुरिति** ।।२८।।

व्याख्यार्थ—वह (बलरामजी) निश्चय पूर्वक सङ्कल्प कर असत्पुरुषों के वध से निवृत्त हो गए थे, जिसने ऐसा व्रत ले लिया है उसको मारने के योग्य को भी मारना निषिद्ध है, तो भी अधिक क्षोभ होने से तथा ऐसी भावी बननी ही थी इसलिए धर्म की परीक्षा के लिए लौकिक शस्त्र त्याग कर, उसमें भी अपने हस्त में धरे हुए सूक्ष्म कुश को मारने का साधन बनाया, कुश, हस्त में रखा हुआ था, इसलिए उसमें क्रिया शक्ति का अध्यास था प्रभु होने से मरने और मारने में कारण हैं, यों, ।।२८।।

आभास—यद्यपि तन्मारणं धर्मः तथापि धर्मप्रवर्तकानां नाभिप्रेतः, अतस्ते खिन्ना जाता इत्याह **हाहेति** ।

आभासार्थ—यद्यपि उसका वध धर्म था किन्तु ऋषियों को वह इच्छित नहीं था, अतः वे खिन्न (अप्रसन्न) हुए जिसका वर्णन 'हाहेति' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**हाहेतिवादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः ।**
ऊचुः संकर्षणं देवमधर्मस्ते कृतः प्रभोः ।।२९।।

श्लोकार्थ—तब सब मुनि हाहाकार करने लगे और खिन्न चित्त हो बलरामजी को कहने लगे कि हे प्रभुः आपने यह अधर्म किया है ।।२९।।

सुबोधिनी—**सर्व** एव स्वाभिलषितनाशात् **हाहेतिवादिनः** । ते हि भगवत्कथां शृण्वानाः तद्विघातो जात इति **खिन्नमानसा** जाताः । यतो **मुनयः** । श्रुतो हि भगवान् मन्तव्यो भवति । साक्षाद्गुरोः सकाशादध्ययनव्यापारे मननं बाधितं भवेत् । अतोयं प्रसङ्गादगृहे समागतः सर्वं श्रावयतीत्यनायासेनाभिलषितसिद्धिः तन्नाशान्मनः खेद । तथापि जात एवानर्थ इति तूष्णीं स्थातव्यं किमित्युपालम्भः क्रियत इति तत्राह **संकर्षण**मिति । स ह्यन्यधर्ममन्यत्र प्रयोजयितुं शक्तः द्रष्टृदृश्ययोर्मेलकत्वात् । तत्रापि **देवः** अलौकिकमपि योजयेत् । अतः स वक्तव्य एवेत्यूचुः । **ते** त्वया **अधर्मः कृत** इति । अयमधर्मस्तवैव जातो नास्माकमयमभिप्रायः **प्रभो**रिति सामर्थ्यमेव त्वया प्रकटितं न तु ज्ञानमिति सूचितम् ।।२९।।

व्याख्यार्थ—सब ही मुनिलोग, अपने इच्छित कार्य नाश हो जाने से हाहाकार करने लगे, वे निश्चय पूर्वक भगवत्कथा सुन रहे थे उसका नाश हो गया, अब कैसे सुनेंगें ? इससे खिन्न हृदय वाले हुए क्योंकि 'मुनि' हैं भगवत्कथा सुनकर मनन करने वाले हैं, भगवान् के गुण गान जब सुने जाते हैं तब ही उनमें प्रेम उत्पन्न होता है जिससे वे पूजनीय समझे जाते हैं ।

साक्षात् गुरु की सन्निधि में बैठे जब पढा जाता है तब उसका मनन करना नहीं बन पाता है, अतः यह प्रसङ्ग से घर पधार गया, जो भी हम पूछेंगे वह सुनाएगा, जिससे बिना श्रम के अभिलषित[1] की सिद्धि हो जाती, उसका नाश हो गया इससे मनको खेद हुआ, तो भी जो होना था वह अनर्थ हो ही गया इसलिए अब मौन ही धारण करना उचित है, उपालम्भ क्यों देते हो ? इसका उत्तर देते हैं कि ये सङ्कर्षण हैं इनमें वह शक्ति एक का धर्म (कर्म वा शक्ति) दूसरे में स्थापित कर सकते हैं द्रष्टा[2] व दृश्य[3] दोनों को मिला सकते हैं, उसमें भी फिर विशेषता यह है कि देव हैं । जिससे अलौकिक कार्य भी कर सकते हैं, इसलिए इनको कहना ही चाहिए, तुमने इसका जो वध किया वह अधर्म कार्य किया है, यों कहने का भाव यह है, इसके मारने से जो अधर्म हुआ, अधर्म का पाप आपको ही लगेगा न कि हमको, 'प्रभो' विशेषण से यह बताया है कि आपने अपना सामर्थ्य ही प्रकट कर दिखाया है, न कि ज्ञान प्रकट किया है ।।२९।।

आभास—कथमधर्म इत्याशङ्क्यायामाह **अस्य ब्रह्मासनं** दत्तमिति ।

आभासार्थ—यह वध अधर्म कैसे हैं उसका उत्तर 'अस्य ब्रह्मासन' श्लोक में देते हैं—

श्लोक - **अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन ।**
आयुश्चात्माक्लमं तावद्यावत्सत्रं समाप्यते ।।३०।।

श्लोकार्थ—हे यदुनन्दन ! हम लोगों ने इसको ब्रह्मासन दिया है और इसकी आयु कम थी, इसलिए जब तक हमारा यह सत्र (कथा-यज्ञ) समाप्त न होवे तब तक यह जीवित रहे ।।३०।।

१–जो हम चाहते हैं उसकी सिद्धि २–भगवान् ३–जगत् इन दोनों को संहार से मिलाने वाले अर्थात् एक करने वाले हैं ।

सुबोधिनी—अन्यस्मात्कथाश्रवणं दोषायेति **ब्राह्मासनं** दत्तवन्तः । यावदयमासने उपविश्य तिष्ठति तावद्ब्राह्मण एवेति अत एवानेन नोत्थितम्, तैस्तु स्वब्रह्मत्वमत्र स्थापितामिति तेषामुत्थानेप्यस्यानुत्थानं न हि ब्राह्मणः क्षत्रियं मन्यते, धर्मस्तु अयुक्ते ब्रह्मत्वं स्थापितमिति वधे सानुकूलः । **अस्माभि**रिति स्वसामर्थ्यं ख्यापयति । **यदुनन्दने**ति ब्राह्मणहृदयानभिज्ञत्वम् । 'पितापुत्रौ विजानीयाद्'ति वाक्यात् क्षत्रियः पुत्रो भवति । ततः पितुरभिप्रायाज्ञानं तव युक्तमिति गूढोऽभिप्रायः । किंच । अस्मद्वाक्यमपि त्वया नाशितमित्याह **आयुश्चे**ति । यद्यपि ब्राह्मणानां कृतिः अन्यथापि भवेत् तथापि वाक् मृषा भवितुं नार्हति । अस्माभिश्च अल्पायुरयं ज्ञात्वा अस्मा आयुर्दत्तम् । **यावत्सस्त्रं समाप्यते** तावदस्मदायुरत्र तिष्ठति अतोस्माकमायुषोपि क्षयो जातः । सूर्यो धर्मादिकरणदशायां आयुर्न गृह्णति इत्यवोचाम । किंच । **आत्माक्लमं च** आत्मनो देहस्य क्लमाभावः । अतः स्वकीयदानमलौकिकदानं च स्वयं नष्टमित्याक्रोशो जातः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण के सिवाय दूसरे से कथा सुननी दोष देने वाली है इसलिए हमने इसको ब्रह्मासन दिया है जिससे यह जब तक इस आसन पर बैठा रहे तब तक ब्राह्मण ही है । अत एव यह आपके आने पर उठकर खड़ा नहीं हुआ है । मुनियों ने अपना ब्रह्मपन इसमें स्थापित किया जिससे यह अब ब्राह्मण है, किन्तु जिन मुनियों ने इसको ब्राह्मणत्व दिया वे तो उठ खड़े हुवे तो भी यह नहीं उठा, कोई भी सुज्ञ जन क्षत्रिय को ब्राह्मण नहीं मानता है । अयोग्य में ब्राह्मणत्व स्थापित किया, इसलिए ऐसे के वध में धर्म अनुकूल ही है । 'अस्माभिः' बहुवचन देकर अपनी समर्थता प्रकट कर दिखाई है, 'यदुनन्दन' विशेषण से जताया है कि ब्राह्मणों का हार्द नहीं समझते हैं 'पिता पुत्रौ विजानीयात्' इस वाक्यानुसार पुत्र क्षत्रिय हो तो ब्राह्मण पिता के अभिप्राय को नहीं जान सकता है, कहने का यह गुप्त आशय है कि तुम्हें जो पिता के अभिप्राय का अज्ञान है वह उचित ही है और विशेष यह है कि तुमने हमारी वाणी का भी नाश किया है, यद्यपि ब्राह्मणों की कृति अन्यथा हो भी सकती है किन्तु वाणी झूठी होने योग्य नहीं है । हम लोगों ने इसकी आयु थोड़ी देखकर इसको आयु का दान किया कि जहां तक हमारा सत्र समाप्त नहीं होगा तहां तक तुम्हारी मृत्यु भी न होगी अर्थात् तुम तब तक जीवित रहोगे तब तक हमारी दी हुई आयु रहेगी, इसका वध होने से हम लोगों के आयु का भी क्षय हो गया । सूर्य भी धर्मादि करने की दशा में आयु को ग्रहण नहीं करता है, यों हम कहते हैं, किञ्च आत्मा का अर्थात् देह के नाश का अभाव है अतः अपना किया हुआ दान और अलौकिक दान स्वयं नष्ट हो गए, इस कारण से हाहाकार हुआ ॥३०॥

आभास—तर्हि किं पर्यवसितं जातमित्याकाङ्क्षायामाहुः **अजानतैवाचरित** इति ।

आभासार्थ—ऐसा होने पर क्या परिणाम निकला ? इस आकाङ्क्षा का (अजानतैव) श्लोक में उत्तर देते हैं ।

श्लोक—**अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा ।**
योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोपि नियामकः ॥३१॥

श्लोकार्थ—जैसे ब्राह्मण का वध, वैसे यह भी है इसलिए यह वध महान् पातक के

समान है, किन्तु आपने यह अनजान होके किया है, इसका जो प्रायश्चित होना चाहिए वह आपको लगता नहीं है क्योंकि आप योगेश्वर होने से वेद के भी नियामक हैं ।३१।

सुबोधिनी—**यथा ब्रह्मवधः** तथास्य वध इति महापातकसमत्वम् । अज्ञानात्कृतमिति प्रायश्चित्तार्हता, कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विवक्षितेति । तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह **योगेश्वरस्ये**ति । यो हि जीवः तस्यैव कर्मणा गुणदोषौ भवतः भवांस्तु योनेश्वरो ब्रह्म । अतो **भवतो नियामक आम्नायोऽपि न** भवति, वेदेन हि सर्वार्थो नियम्यते । अतो यद्यपि तव न वधदोषः प्रकारान्तरेण धर्माभीप्सितमप्युक्तम् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—यह वध ब्राह्मण वध के समान होने से महापातक के तुल्य है किन्तु अज्ञान से किया है, अतः प्रायश्चित्त के योग्य है, जानकर ब्राह्मण का वध किया जावे तो उसका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है, तो अब क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आप योगेश्वर अर्थात् ब्रह्म हैं, जो जीव होता है उसको उसके कर्म के गुण और दोष लगते हैं आपको नहीं, कारण कि वेद, जीव का नियामक है आपका नहीं है, वेद से ही सर्व अर्थों का नियमन होता है, अतः यद्यपि आपको वध का दोष नहीं लगता है प्रकारान्तर से धर्म अभीप्सित था यों कहा है ॥३१॥

आभास—तथापि प्रायश्चित्तं कर्तव्यमित्याहुः **यद्येतद्ब्रह्महत्याया** इति ।

आभासार्थ—तो भी प्रायश्चित्त करना चाहिए यह 'यद्येतद्ब्रह्म' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**यद्येतद्ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन ।**
चरिष्यति भवाँल्लोकसंग्रहोनन्यचोदितः ॥३२॥

श्लोकार्थ—हे लोकपावन ! जो आप ब्रह्महत्या के पाप को मिटाकर पवित्र करने वाला प्रायश्चित करोगे तो जगत् की मर्यादा रहेगी ! जिससे लोक संग्रह होगा और लोक पवित्र होंगे ॥३२॥

सुबोधिनी- एतादृश **ब्रह्महत्यायाः पावनं** प्रायश्चित्तं तदा तव **लोकसंग्रहः** नान्यथा, अन्यैश्चोक्तः **लोकसंग्रहो** न भवति अस्मद्विरोधात् । ननु मास्तु लोकसंग्रह इति चेत्तत्राहुः **लोकपावन** इति लोकपावित्र्यार्थमेव त्वया समागतमिति । यथा वधाभावे त्वया अवतारवैयर्थ्यमुक्तं तथा प्रायश्चित्ताकरणेऽपि लोकोपकाराभावादवतारवैयर्थ्यमिति भावः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—ऐसी ब्राह्महत्या का प्रायश्चित आप लोक संग्रह के लिए करोगे, अपने पाप धोने के लिए नहीं क्योंकि आपको तो पाप स्पर्श ही नहीं कर सकते हैं, यदि 'हमारे विरोध से लोकसंग्रह नहीं होगा यों दूसरे कहें' तो भी लोक पावन के लिए आपका अवतार है अतः यह प्रायश्चित्त लोक को तो पवित्र करेगा ही, जैसे वध न करने से आपने कहा कि मेरा अवतार लेना व्यर्थ होगा वैसे प्रायश्चित के न करने से लोगों पर उपकार भी न होगा जिससे भी अवतार की व्यर्थता होगी यों भाव है ॥३२॥

आभास—ऋषिप्रोक्तं प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यमिति निश्चित्य पृच्छति **चरिष्य** इति ।

आभासार्थ—जो प्रायश्चित्त ऋषि लोग कहे वह करना चाहिए यह निश्चय कर निम्न श्लोक में ऋषियों से पूछते हैं—

श्लोक—श्री बलदेव उवाच—**चरिष्ये वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया ।**
नियम प्रथमे कल्पे यावान्स तु विधीयताम् ।।३३।।

श्लोकार्थ—श्री बलदेवजी कहने लगे कि लोकानुग्रह की कामना से वध का प्रायश्चित करूंगा, प्रथम कल्प में जो नियम था वह बताईये ।।३३।।

सुबोधिनी—**वधनिर्वेशो** वधप्रायश्चित्तम् । लोकपावनोपपत्तिमङ्गीकृत्याह **लोकानुग्रहकाम्ययेति** । ततश्चानुकल्पं परित्यज्य मुख्यकल्पमेव वदन्त्वित्याह **नियमः प्रथमे कल्प** इति । मुख्यकल्पे यावद्व्रतं तावद्वेदो न वदतीति सङ्कोचं परित्यज्य **स विधीयताम् ।।३३।।**

व्याख्यार्थ—'वधनिर्वेश' का तात्पर्य है वध का प्रायश्चित्त, जिससे लोक पवित्र होंगे यह उपपत्ति मानकर कहते हैं कि लोकानुग्रह की कामना से प्रायश्चित करूँगा, मुख्य कल्प में जो प्रायश्चित्त करने के नियम थे वे मुझे कहिये, मुख्य कल्प में जो नियम थे वे वेद इस समय नहीं कहता है, इस सङ्कोच का त्याग कर मुख्य कल्प के नियम बतलाईये ।।३३।।

आभास—अथान्यदप्यभिलषितं भवतां करिष्यामीत्याह **दीर्घमायुरिति** ।

आभासार्थ—आपको अन्य भी कुछ अभिलषित हो तो वह कहिए मैं वह भी पूर्ण करूंगा-यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**दीर्घमायुर्बतैतस्य सत्त्वमिन्द्रियमेव च ।**
आशंसितं यत्तद्ब्रूत साधये योगमायया ।।३४।।

श्लोकार्थ—इसकी दीर्घ आयु, बल और इन्द्रिय सामर्थ्य जो भी आपकी इच्छा हो वह कहिए मैं अपने योगबल से सर्व पूर्ण करूंगा ।।३४।।

सुबोधिनी—यथैतस्य **दीर्घमायुः सत्त्वं** बलं **इन्द्रिय**सामर्थ्यं च । चकारादन्यदपि यदेव किंचिद्भवता**माशंसित्तं चका**रात्पूर्वमनाशंसितं च तत्सर्वं **योगमायया** साधयिष्यामि ।।३४।।

व्याख्यार्थ—जैसे कि इसकी दीर्घ आयु, बल और इन्द्रियों में सामर्थ्य हो वह अन्य भी जो कुछ आपकी इच्छा हो, 'च' पद से कहते हैं कि आगे इच्छा न भी हो, अब हुई हो वह भी कहिए तो मैं सब अपने योगबल से सिद्ध करूंगा ।।३४।।

आभास—तदा संतुष्टा ऋषय ऊचुः परीक्षार्थं संदिहाना विरुद्धद्वयमस्माभिर्वक्तव्यम्,

तत्र यदि समाधानं ज्ञास्यति तदा अस्योक्तं भविष्यतीति तादृशमाहुः **अस्त्रस्येति** ।

आभासार्थ—बलरामजी के ये वाक्य सुनकर प्रसन्न हुए ऋषि कहने लगे इनकी परीक्षा लेवें वा नहीं ? हम एक दूसरे के विरुद्ध बाते कहें, उसमें यदि समाधान समझ जाएगें तो इसका यों कहना सिद्ध होगा यह 'अस्त्रस्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— ऋषयः ऊचुः—**अस्त्रस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च ।**
यथा भवेद्वचः सत्यं तथा राम विधीयताम् ।।३५।।

श्लोकार्थ—ऋषि कहने लगे—आपके अस्त्र की, पराक्रम की और मृत्यु की सत्यता हो जाय और हमको भी बाध न होवे जो कुछ कहा है वह सत्य हो वैसे करिये ।३५।

सुबोधिनी—चत्वारोत्र व्यापृताः **अस्त्रं, तव वीर्यम्, मृत्युर्वयं** चेति तत्र तस्य जीवने त्रयं बाधितं भवेत्, अजीवने तु वयं चकारात्तव वाक्यं च । यथैतच्चतुष्टयमपि **सत्यं भवेत् तथा राम विधीयतामिति** ।।३५।।

व्याख्यार्थ—यहाँ चार विषय मिले हुए हैं, अस्त्र, आपका वीर्य (पराक्रम) मृत्यु और हम, इसमें उसके जीने में तीन बाधित हैं और अजीवन में तो हम, 'च' पद से, और आपका वाक्य, जैसे ये चार भी सत्य हो जाय हे राम ! वैसे कीजिए ।। ३५ ।।

आभास— एकेनैव चतुर्णां दूषणानां निर्द्धारमाह **आत्मा वै पुत्र उत्पन्नः** इति ।

आभासार्थ—एक 'आत्मा वै' श्लोक से चारों दूषणों का निर्णय करते हैं—

श्लोक – श्री बलदेव उवाच—**आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम् ।**
तस्मादस्य भवेद्वक्ता आयुरिन्द्रियवीर्यवान् ।।३६।।

श्लोकार्थ—श्री बलदेवजी कहने लगे कि इसका पुत्र उग्रश्रवा तुमको पुराण सुनावेगा क्योंकि वेद की आज्ञा है कि पिता ही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है वह आयु, वीर्य और इन्द्रिय बलवान होगा ।।३६।।

सुबोधिनी—'अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्' इति । यद्यप्ययमनुकल्पः तथापि मुख्याभावे विधीयते यतो **वेदानुशासनम् । तस्मादस्य** पुराणस्य **वक्ता आयुरिन्द्रियवीर्यवान्** अयमेव भवेत्तदा अस्त्रस्य, मम वीर्यस्य **तस्मादस्य** मृत्योश्च न बाधा भवति । सामान्यात्प्रतिनिधिस्तद्धर्मजः स्यादिति न्यायात् । अस्यापि तथाविधा भवत्विति बोधितम् ।।३६।।

व्याख्यार्थ—'अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्'

इस श्रुति के अनुसार पुत्र पिता के अङ्ग अङ्ग से उत्पन्न होने से पिता का ही रूप है, उसमें आशीर्वाद रूप से कहा है कि वह १०० वर्ष जीवित रहे, यद्यपि यह अनुकल्प है, तो भी मुख्य के अभाव में उसीसे कार्य चलाना चाहिए क्योंकि वेद की आज्ञा है, इस कारण से इस पुराण का कहने वाला आयु, इन्द्रिय सामर्थ्य और वीर्यवाला यह ही होवे तब अस्त्र, मेरे वीर्य, उससे इसके मृत्यु में बाधा न होगी. सामान्यतया उस धर्म से उत्पन्न प्रतिनिधि होना चाहिए, इस न्याय से इसका भी यही प्रकार होना चाहिए, यों समझाया हैं ।। ३६ ।।

आभास—किंच । यद्यपीदं भवतां सर्वथा नाभिप्रेतं तथाप्येतत्प्रतिनिधित्वेनान्यद्वक्तव्यमित्याह **किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा** इति ।

आभासार्थ—और कुछ यद्यपि, यह जो मैंने बताया वह आपको सर्वथा इच्छित हो वह कहिए यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूताहं करवाण्यथ ।**
अजानतस्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां बुधाः ।।३७।।

श्लोकार्थ—हे मुनिश्रेष्ठों ! आपकी कौनसी इच्छा है वह कहिये तो मैं करूंगा; क्या प्रायश्चित करना चाहिए वह मैं नहीं जानता हूँ इसलिए आप विचार कर मुझे बतलाइए ।।३७।।

सुबोधिनी—**अथ** तदनन्तरं शीघ्रमेव तत्करवाणि । तर्हि स्वेच्छयैव किंचित् कर्तव्यमिति चेत्तत्राह **अजानतस्त्वपचितिमिति** । विधाय **यथा** यथावत् । यतो भवन्तो **बुधाः** । अतः **अपचितिम्** पराधदूरीकरणोपायं **चिन्त्यताम्**, तदनूच्यतामित्यर्थः ।।३७।।

व्याख्यार्थ—आपके कहने के अनन्तर, आपका कहा हुआ शीघ्र ही करूंगा, यदि कहो कि हमसे क्यों पूछते हो अपनी इच्छा से कीजिए, इसके उत्तर में कहते हैं कि, क्या प्रायश्चित करना चाहिए वह मैं नहीं जानता हूँ अतः जैसा प्रायश्चित का प्रकार हो वह विचार कर मुझे आप कहें क्योंकि आप बुध हो अर्थात् इसको जानते हो अतः अपराध के दूर करने का उपाय विचारिये, बिचार करने के अनन्तर मुझे बताइए ।। ३७ ।

आभास—तदाहुः **इल्वलस्येति** ।

आभासार्थ—ऋषि लोग निम्न 'इल्वलस्य' श्लोक में वह अपना इच्छित कार्य बताते हैं—

श्लोक— ऋषय ऊचुः - **इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः ।**
स दूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि ।।३८।।

श्लोकार्थ—ऋषि कहने लगे कि, इल्वल का पुत्र बल्वल नामवाला दानव प्रत्येक

पर्व पर आके हमारे यज्ञ को दूषित करता है ।।३८।।

सुबोधिनी—समानमेव निष्कृतिहेतुर्भवति । इल्वलोऽपि ब्रह्मवेषधरो भवति ऋषिवेषेणैव क्वचित् स्थित्वा 'अगस्त्यायातिथये पेचे वातापिम्' स **इल्वलः**, तस्य **सुतो बल्वलः** । स स्वभावतोऽपि वध्य इति ज्ञापयितुमाह **दानव** इति । किमतस्त्राह **सः दूषयति नः सत्रमिति** । **पर्वणि पर्वणि** पूर्णमास्यां सुत्यादिवसे ।।३८।।

व्याख्यार्थ—बराबर वाला ही निष्कृति का हेतु होता है, इल्वल[1] भी ब्राह्मण वेष धारण कर ऋषि रूप से कहीं ठहरा था उसका पुत्र बल्वल है, वह मारने योग्य है कारण कि एक तो वह दानव है, इससे वध के योग्य है और दूसरा कारण यह है कि वह पुर्णमासी आदि प्रत्येक पर्व पर आकर हमारे यज्ञ को अपवित्र वस्तुओं द्वारा दूषित करता है ।। ३८ ।।

आभास—एवं तस्यापराधमुक्त्वा कर्तव्यमाह **तं पापं जहीति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार उसका अपराध कहकर अनन्तर निम्न श्लोक में कर्तव्य कहते हैं—

श्लोक—**तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम्**
पूयशोणितविण्मूत्रसुरामांसाभिवर्षणम् ।।३९।।

श्लोकार्थ—उस पापी दैत्य का वध करो, कारण कि यह हमारे यज्ञ को पूय, रुधिर, विष्टा, मूत्र, मद्य और मांस की वर्षा से भ्रष्ट करता है इसका वध ही हमारी बड़ी सेवा आपने की, यों हम मानेंगे ।।३९।।

सुबोधिनी— पापत्वादवश्यं मारणीयः । **दाशार्हेति** स्वस्य शरणागतत्वं तस्य तत्पालकत्वं च बोधितम् । तदेव **नः शुश्रूषणम्**, अपेक्षितत्वाद्दुःखनिवारकत्वाच्च । यद्यपि पादसंवाहनादिकमपि भवति शुश्रूषणं तथापि **तत्परम्** । तस्य दूषणप्रकारमाहुः **पूयशोणितेति** । पश्वुश्रूषणत्वायैतदग्रे कथितम् । पूयादिषण्णा**मभितो वर्षणम्** यस्मादिति ।।३९।।

व्याख्यार्थ—पापी होने से यह अवश्य मारने योग्य है, दाशार्ह ! संबोधन से यह बताया है कि, हम आपके शरण आए हुए हैं, हमको पालना यह आपका धर्म है, यों करना ही, हमारी सेवा है, यह हमारी अपेक्षा है अर्थात् हम यों चाहते हैं और दुःख निवारक होने से भी यह कार्य आपको अवश्य करना चाहिए यद्यपि पाद[2] संवाहन आदि भी सेवा है किन्तु यह उससे श्रेष्ठ है, उसके (बल्वल के) दूषण कहते हैं- पूयादि षट अमेध्य वस्तुओं की वर्षा यज्ञ में करते हैं- परशुश्रूषेणत्व[3] के लिए यह पहले कहा है ।। ३९ ।।

आभास—एवं स्वाभिलषितमुक्त्वा तत्करणेनास्मत्संतोषे सुगममेव प्रायश्चित्तं त्वया कर्तव्यमित्याह **ततश्च भारतं वर्षमिति** ।

१- 'अगस्त्यायातिथये पेचे वातापिम्' स इल्वलः २- चरण चाँपना ३- बड़ी सेवा

आभासार्थ—इस प्रकार अपना अभिलषित कह कर, उसके करने से हम प्रसन्न होंगे, फिर आप सुगम ही प्रायश्चित्त करना, वह प्रायश्चित नीचे के श्लोक में सुनाते हैं—

श्लोक—ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः ।
चरित्वा द्वादशान् मासांस्तीर्थस्नायी विशुध्यसे ।।४०।।

श्लोकार्थ—इसके बाद मन स्थिर कर, एक वर्ष पर्यन्त भारत में भ्रमण करते हुए तीर्थों में स्नान करने से आप ब्रह्महत्या के पाप को धोकर शुद्ध हो जाओगे ।४०।

सुबोधिनी—**भारतवर्षस्य** संपूर्णस्य **परिभ्रमणं** कर्तव्यम् । अयं मुख्यः कल्पः । तत्र प्रकारः **सुसमाहित** इति । **द्वादशान्मासान्** व्रतं **चरित्वेति** शूद्रहत्याव्रतमुपदिष्टम् । ततः वर्षपर्यन्तं तीर्थस्नानेनान्तिमेन वा **विशुध्यसे** शुद्धो भविष्यसि । यात्रा ब्रह्महत्यायाः प्रायश्चित्तं भवति कालस्तु शूद्रहत्यायाः, अस्मत्संतोषो बल्वलवधेन, वाक्यादीनां सत्यता प्रतिनिधिस्थापनेनेति सर्वं यथास्थितं जातमिति **विशुध्यसे** ।।४०।।

व्याख्यार्थ—सम्पूर्ण भारतवर्ष की परिक्रमा करनी, यह मुख्य कल्प है, उसमें क्या करना वह प्रकार बताते है, १–एक चित्त हो . २–एक वर्ष पर्यन्त वह व्रत रखना है, यह व्रत, शूद्रहत्या के पाप का नाशक है, इसके बाद साल भर तीर्थों में स्नान करना, सम्पूर्ण स्नान होने के बाद जब अन्तिम स्नान करोगे तब शुद्ध हो जाओगे, भारत समग्र की यात्रा ब्रह्महत्या का प्रायश्चित है, एक वर्ष का काल शूद्रहत्या का प्रायश्चित है, बल्वल के वध से हमारा सन्तोष होगा, प्रतिनिधी के स्थापित होने से आपके वाक्य की सत्यता सिद्ध होगी, यों सब यथास्थित हो जाएगा, अर्थात् जैसा था वैसा सब हो जायगा, जिससे आप शुद्ध हो जाओगे ।। ४० ।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे एकोनत्रिंशाध्यायविवरणम् ।। २५ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७५वें अध्याय (उत्तरार्ध के २९वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल अवान्तर प्रकरण का प्रथम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

—: दंतवक्र वध :—

राग मारू—

हरि निकट सुभट दंतवक्र आयौ ।
कह्यौ सिसुपाल तुम राजसू में हत्यौ, धन्य सोइ हेत मैं दरस पायौ ।
मरत तुम हाथ संसै नहीं कछु हमैं, दोउ विधि आहि प्रमुदित हमारैं ।।
जिएँ तौ राजसुख भोग पावैं जगत, मुएँ निरवान निरखत तुम्हारे ।।
बहुरि लै गदा परहार कियौ स्याम पर, लग्यौ ज्यौं लगै अंबुज पहारै ।
हरि गदा लगत गए प्रान ताके निकसि, बहुरि हरि निज बदन माहि धारे ।।
अनुज ताकौ बिदूरथ लग्यौ फिरन पुनि, चक्र सौं सीस ताकौं प्रहारचौ ।
सूर प्रभु जुद्ध निरखि भयौ मुनि जन हरष, सुर पुहुप बरषि जै जै उचारचौ ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ७९वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ७६वाँ अध्याय
उत्तरार्ध ३०वाँ अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—" २

बल्वल का उद्धार और बलरामजी की तीर्थ यात्रा

कारिका—**कीर्त्यभावे सुसंसिद्धे कीर्तिहेतुन् बल. स्वयम् ।**
त्रिंशत्तमे तथाध्याये चकारेति निरूप्यते ।।१।।

कारिकार्थ— पूर्व अध्याय में बलरामजी ने सूत को मारा जिससे उनकी जैसे अपकीर्ति हुई, वैसे ही इस अध्याय में बलरामजी स्वयं ऐसे कर्म करेंगे जिनसे आपका यश फैलेगा ।।१।।

आभास—तत्र प्रथमं बल्वलवधार्थं कालप्रतीक्षा कृता । ततो बल्वलसमागमनमाह **ततः पर्वण्युपावृत्त** इति ।

आभासार्थ—उसमें पहले बल्वल के वध के लिए काल की प्रतीक्षा की पश्चात् बल्वल आया, जिसका वर्णन 'ततः' श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्लोक—श्री शुक उवाच—**ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांशुवर्षणः ।**
भीमो वायुरभूद्राजन्पूयगन्धस्तु सर्वतः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि, हे राजा ! जब पूर्णिमा का पर्व आया तब उस दिन भयंकर और प्रचण्ड पवन चलने लगा और साथ में धूलि बरसने लगी तथा चारों ओर पूय की बदबू फैल गई ॥१॥

सुबोधिनी—दानवा अदृष्टं एवेति तत्कार्यमेव दृष्टं वर्णयति **ततः प्रचण्डः पांशुवर्षणः** पांशुवृष्टिं वर्षन् भयानको **वायु**राविर्भूतः । एतत्तेषां प्रथमकार्यम् । **राजन्निति** संबोधनं महती सेना पश्चात्समायातीति ज्ञापनार्थम् । ततः **पूयगन्धश्च सर्वतो** जातः । ॥१॥

व्याख्यार्थ - दानव स्वयं (खुद) तो अदृश्य ही होते हैं, इसलिए उसने जो दृष्ट कार्य किया उसका वर्णन करते हैं, पश्चात् धूल की वर्षा करता हुआ प्रचण्ड पवन चलने लगा, वह इनका प्रथम कार्य था, हे राजन् ! यह संबोधन इस आशय को जताने के लिए दिया कि इसके बाद बड़ी सेना आ रही है, अनन्तर चारों तरफ पूय की बदबू फैल गई ।

आभास—वृष्ट्यर्थं सुरामांसादीनामानयनात् ।

आभासार्थ—वर्षा के लिए मद्य मांस आदि ले आया, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**ततोऽमेध्यमयं वर्षं बल्वलेन विनिर्मितम् ।**
अभवद्यज्ञशालायां सोऽवदृश्यत शूलधृक् ॥२॥

श्लोकार्थ—पश्चात् यज्ञशाला में, बल्वल की बरसायी हुई अपवित्र मांसादि पदार्थों की वर्षा होने लगी, त्रिशूल धारण किए वह भी दीख पड़ा ॥२॥

सुबोधिनी—**ततो यज्ञशालाया**ममेध्यमयं **वर्ष**मभूत्तेन स एवोपद्रव इति निश्चितम् । ततः **सोऽप्यन्वदृश्यत । शूलधृ**गिति युद्धार्थं महादेवाल्लब्धवरत्वं ख्यापयितुम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—अनन्तर यज्ञशाला में अपवित्र मांस पूयादि की वर्षा होने लगी, बलरामजी जान गए कि यह ही निश्चय उपद्रव है, बाद में त्रिशूलधारी वह बल्वल भी दीख पड़ा, त्रिशूल लेने का कारण यह था कि मुझे महादेवजी ने वर दिया है इसकी प्रसिद्धि होवे ॥२॥

आभास—ततो बलदर्शनेन तस्य स्वरूपं वर्णयति **तं विलोक्येति ।**

आभासार्थ—पश्चात् उसका बल देख उसके स्वरूप का 'तं विलोक्य' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तं विलोक्य दृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम् ।**
तप्ताम्रशिखाश्मश्रुं दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम् ॥३॥

श्लोकार्थ – महाकाय टूटे हुए अञ्जन (काजल) पर्वत के समान रंग वाले तपे हुए ताम्र समान लाल शिखा और दाढ़ी मूछ वाले, दाढें और भ्रुकुटी से भयंकर मुख वाले उसको देख राम ने निश्चय किया कि यह सर्वथा मार डालने के योग्य है—अनन्तर क्या किया ? उसका वर्णन ४ श्लोक में करते हैं ।

सुबोधिनी— आदौ मूर्तिस्थौल्यं दृष्ट्वापि भयजनकम् । बलाधिकत्वं च । वर्णेनापि तथात्वमाह **भिन्नाञ्जनचयोपम**मिति । अञ्जनचयोञ्जनपर्वतः प्रसिद्धाञ्जनपर्वताद्भिन्नश्चेन्मूर्तिमानञ्जनपर्वतो भवति । तस्याधिदैविकः पृथक् पर्वतः स्थितः तदायं तत्तुल्यो भवति । एवं तस्मिन् तामसभावमुक्त्वा तथा सति जडो भविष्यतीत्याशङ्क्य तस्य स्वरूपे वर्णे च राजसं भावमाह **तप्ताम्रशिखाश्मश्रु**मिति । अग्नितप्ताम्रवच्छिखाः केशाः श्मश्रूणि च यस्य **तम् । दंष्ट्राभिः उग्रभृकुट्या** च सहितम्, **मुखं** च भ्रुकुटीसहितम्, मुखं दंष्ट्राभिरुग्रं वा अयं सर्वथा वध्य एवेति ॥३॥

व्याख्यार्थ—पहले उसकी मूर्ति की स्थूलता ही भय जनक थी, जिससे उसमें विशेष बल है यह समझा जाता है, फिर उसका रंग भी वैसा ही भयावह था, जिसका वर्णन 'भिन्नानञ्जचयोपमं' पद से करते हैं, अञ्जनचय का आशय है अञ्जन (काजल) का पर्वत, उस प्रसिद्ध अञ्जन पर्वत से टूटा हुआ भाग मूर्तिधारी अञ्जन का पर्वत हो जाता है, उसका आधिदैविक स्वरूप, अलग पर्वत रूप में स्थित होता है, तब यह उसके समान है । इस प्रकार उसमें तामस भाव है, यह कहा । यदि यों है तो वह जड़ होगा, इस प्रकार की शङ्का कर, उसके स्वरूप तथा वर्णन में राजस भाव का वर्णन करते हैं, अग्नि से तपाए हुए तांबे के समान केश, और दाढ़ी मूछ वाला है, और उसका मुख भी दाढ़ों से तथा उग्रभृकुटी से विकराल है, अतः यह सर्वथा मारने के योग्य ही है ॥३॥

श्लोक—**सस्मार मुसलं रामः परसैन्यविदारणम् ।**
हलं च दैत्यदमनं ते तूर्णमुपतस्थतुः ॥४॥

श्लोकार्थ—शत्रु की सेना को नाश करने वाले मूसल और दैत्यों को दमन करने वाले हल का बलदेवजी ने स्मरण किया, जिससे वे दोनों हल और मूसल आ के उपस्थित हुए ॥४॥

सुबोधिनी—स्वशस्त्रं **मुसल**लाङ्गलात्मकं द्वारकायां स्थितं पाताले वैकुण्ठे वा स्थितं **सस्मार** यतो **रामः** सर्वेषां रतिजनकः पूर्ववद्विशेषणम् । **परसैन्यविदारण**मिति शत्रुसेनाविनाशकं **हलं च** तादृशम् । चकारेण तद्धर्मानुत्कर्षः स्मरणानन्तरमेव बलभद्र**मुपतस्थतुः** तत्समीपमागते ॥४॥

व्याख्यार्थ—अपने दो शस्त्र, मूसल और हल नामक थे, जो द्वारका में, पाताल में, अथवा वैकुण्ठ में पड़े थे, उनका राम ने स्मरण किया, क्योंकि 'राम' सर्व को रति देने वाले हैं, आगे की

तरह यह विशेषण है, शत्रु सेना का जो नाश करे वैसा हल था, 'च' पद से उसके धर्म का अनुत्कर्ष कहा, स्मरण के बाद शीघ्र वे दोनों बलरामजी के पास आके खड़े हुए ।।४।।

आभास—ततो लीलायाः कर्तव्याभावात् एकेनैव प्रहारेण तं मारितवानित्याह **तमाकृष्येति** ।

आभासार्थ—पश्चात् लीला करनी नहीं थी. इसलिए एक ही प्रहार से उसको मार डाला. यह 'तमाकृष्य' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम् ।**
मुसलेनाहनत्क्रुद्धोमूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ।।५।।

श्लोकार्थ—बलदेवजी ने क्रोध में आकर, आकाश में विचरते हुए उस ब्रह्मद्रोही बल्वल दैत्य को हल के अग्र से खींच कर, उसके शिर में मूसल का प्रहार किया ।।५।।

सुबोधिनी—गगनेचरं दूरे वर्तमानमपि । भगवत्त्वेऽपि क्रुद्धत्वान्मारणम् । क्रोधे हेतुः **ब्रह्मद्रुहमिति** । **बल** इति सामर्थ्यम् ।।५।।

व्याख्यार्थ—' गगनेचरं ' आकाश में विचरण कर रहा था इसलिए दूर था , तो भी बल्वल को हल के अग्र से खींच लिया , बलराम भगवत्व होने से नहीं मारते , किन्तु क्रोध आगया इसलिए क्रोध के कारण मूसल से प्रहार किया । क्रोध क्यों आया ? जिस के उत्तर में कहते हैं कि ब्रह्म द्रोही था , राम में ऐसा सामर्थ्य था ।। ५ ।।

आभास—तस्य पराक्रमः कोपि जात इति वक्तुं शीघ्रं तस्य पतनमेवोच्यते ।

आभासार्थ—उसका कोई पराक्रम देखने में न आया , यों कहने के लिए बताया है कि वह तुरन्त ही गिर गया यों ' सोऽपतद्भुवि ' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**सोपतद्भुवि निर्भिन्नललाटोसृक्समुत्सृजन् ।**
मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ।।६।।

श्लोकार्थ—मूसल के प्रहार से ललाट टूट गया, जिससे रुधिर की धारा बहाता हुआ पृथ्वी पर ऐसे गिर गया, जैसे वज्र के प्रहार से टूटा हुआ अरुण वर्ण का पर्वत गिरता है, गिरने के समय आर्तस्वर करते ही प्राण निकल गए ।।६।।

सुबोधिनी—**भुवी**ति तस्यापि मुक्तिः । **निर्भिन्न**ललाटत्वं प्रहारज्ञापकम् । **असृक् समुत्सृजन्**निति महाप्रहारः । प्रतीकाराकरणे ज्ञापकः **आर्तस्वरं** मुञ्चन्निति । मुक्त्यर्थं स्वस्मिन् दया ख्यापिता । तादृशोपि हन्तव्य एवेति दृष्टान्तमाह **शैलो यथा वज्रहत** इति । **अरुणः**अरुणवर्णः पर्वतः ।।६।।

व्याख्यार्थ—पृथ्वी पर गिरे , इससे ज्ञात होता है कि इसकी भी मुक्ति हुई । ललाट फूटना जनाता है कि मूसल का प्रहार है रुधिर (खून) बहता है जिससे समझ में आता है कि जबर्दस्त प्रहार हुआ है उसका किसी प्रकार प्रतिकार न हुआ, यह बताने के लिए आर्तस्वर करने लगा , इस प्रकार से भगवान् को प्रार्थना की कि दया कर मेरी मुक्ति कीजिए वैसे को भी मारना ही चाहिए इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं , जैसे अरुण पर्वत वज्र से मारा गया वैसे इसका भी वध होना चाहिए ॥ ६ ।।

आभास—ततः इष्टस्य सिद्धत्वात् मुनयः स्तोत्रादिकं कृतवन्त इत्याह **संस्तुत्येति** ।

आभासार्थ—इष्ट सिद्ध होने के पश्चात् प्रसन्न मुनिगण स्तुति करने लगे , जिसका वर्णन ' संस्तुत्य ' श्लोक में करते हैं :

श्लोक—**संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिषः ।**
अभ्यषिञ्चन्महाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा ।।७।।

श्लोकार्थ—मुनियों ने राम की स्तुति कर, सत्य आशीर्वाद देकर, जैसे देवताओं ने इन्द्र का अभिषेक किया वैसे इन्होंने बलरामजी का अभिषेक किया ।।७।।

सुबोधिनी—**स्तोत्रं** स्वसंतोषख्यापकम् । ततः प्रीतानां सत्याशीर्दानम् । ततः सर्वपुरुषार्थसिद्धयर्थं **अभ्यसिञ्चन्** कीर्त्यर्थं पापनिवृत्त्यर्थं वा । परमदयालुर्व्रतस्थः कथमेवं कृतवानित्याशङ्कां वारयितुं महत्या प्रार्थनया केवलं मारितवान् । न तु स्वत एवेति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **वृत्रघ्नं विबुधा यथे**ति । वृत्रे हते यथा देवा इन्द्राभिषेकं चक्रुरित्यर्थः । अनेन तस्य सर्वपापक्षयो निरूपितः ।।७।।

व्याख्यार्थ—स्तुति करने का तात्पर्य है अपने को संतुष्ट करना अतः बलरामजी की स्तुति कर मुनि लोग प्रसन्न हुए । बाद में सत्य आशीर्वाद भी दिए अनन्तर सर्व पुरुषार्थ सिद्धि के लिए राम का अभिषेक करने लगे । बलरामजी परम दयालु हैं और इस समय व्रतधारी भी हैं, ऐसी हालत में, वध जैसा कार्य कैसे किया ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि बहुत प्रार्थना करने से केवल मारा, स्वतः ही नहीं मारा इसको समझाने के लिए दृष्टान्त दिया है कि जैसे वृत्र को मारने से देव प्रसन्न हुए, जिससे उन्होंने इन्द्र का अभिषेक किया वैसे ही बल्वल दैत्य के नाश से मुनि प्रसन्न हुए, क्योंकि अब हमारा यज्ञकर्म शुद्धि एवं निर्विघ्न होगा, जिसके लिए ऋषियों ने भी अभिषेक किया ।।७।।

श्लोक—**वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजाम् ।**
रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च ।।८।।

श्लोकार्थ—लक्ष्मी की निवासवाली, जिसके पुष्प कभी मुरझाते नहीं, ऐसी वैजयन्तीमाला, दिव्य वस्त्र और दिव्य आभरण राम को दिये ।।८।।

सुबोधिनी—ततः कीर्त्याद्युपचयार्थं **वैजयन्तीं मालां ददुः**। आपादलम्बिनी वैजयन्ती, **श्रीधामेति** स्थिरलक्ष्मीत्वम्। **अम्लानेति** दोषाभावः। **पङ्कजेति** गुणाः। ततो रामाय सर्वरमणरूपाय, **दिव्ये वाससी दिव्यानि चाभरणानि** लौकिकशोभातिशोभितं ददुः ॥८॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् कीर्ति बढ़ाने के लिए, मुनियों ने राम को पैरों तक लटकती, लक्ष्मी का निवास स्थान, जिसके पुष्प कभी कुम्हलाते नहीं, ऐसी वैजयन्तीमाला दी, पुष्पों का न मुरझाना सिद्ध करता है कि इस माला में किसी प्रकार का दोष नहीं है, किन्तु 'पङ्कज' पद से कहते हैं सर्वगुण इसमें हैं। 'राम' शब्द से यह भाव बताया है कि यह स्वरूप सबको आनन्द कराने वाला है, वस्त्र और आभरणों को दिव्य कहने से उनकी, लौकिक शोभा से विशेष शोभा प्रकट की है इनके धारण करने से आपकी अलौकिक शोभा होगी ॥८॥

श्लोक—**अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः।**
स्नात्वा सरोवरमगाद्यतः सरयुरास्रवत् ॥९॥
अनुस्रोतेन सरयुं प्रयागमुपगम्य सः।
स्नात्वा संतर्प्य देवादीञ्जगाम पुलहाश्रमम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—मुनि लोगों से आज्ञा ले, ब्राह्मणों के साथ कौशिकी नदी पर आकर वहाँ स्नान कर, मानस सरोवर गए वहाँ से सरयु के प्रवाह के साथ साथ आते प्रयाग पहुँचे, वहाँ त्रिवेणी में स्नान कर देव आदि का तर्पण कर, पुलह के आश्रम आए।

सुबोधिनी—एवं लौकिकालौकिकशोभातिशयसंयुक्तः सन् तदाज्ञापालनार्थं **तैरभ्यनुज्ञातः** तीर्थयात्रार्थमाज्ञप्तः **ब्राह्मणैः** सह **कौशिकीं** नदीं ययौ। तत उत्तरभागे या कोटाग्रामादायाति सा **कौशिकी तत्र स्नात्वा** तेनैव मार्गेण मानस**सरोवरमगात्**। तस्मात्सरोवरात् बह्वयो नद्यः प्रसृताः। ततः **सरयु**रपि प्रसृता। अतस्तत्सङ्गे **अनुस्रोतेन सरयु**मयोध्यापर्यन्तमागत्य पश्चात् प्रयागे समागतः। सरयुशब्दः सरयूशब्दश्च। सर इत्युदकनाम सरो युनक्तीति। ततस्तीर्थराजः **प्रयाग** इति तत्र विशेषस्नानादिकमाह **स्नात्वा संतर्प्येति**। तत उत्तरभागे **पुलहाश्रमं** हरिक्षेत्रं गतः ॥९॥१०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार बलरामजी लौकिक और अलौकिक शोभा वाले बनकर, मुनियों की आज्ञा पालने के लिए, उनसे आज्ञा प्राप्त कर तीर्थ यात्रा पर, ब्राह्मणों के साथ पधारे। पहले कौशिकी नदी पर पहुँचे, कौशिकी नदी वह है जो उत्तर भाग में कोटा ग्राम से आती है, उसमें स्नान कर, उसी ही मार्ग से मानस सरोवर गए।

उस सरोवर से अनेक नदियां निकल कर बहती हैं। उससे सरयु भी निकली है, अतः उस सरयु के प्रवाह के साथ-साथ आते हुए अयोध्या पर्यन्त आकर, अनन्तर प्रयाग आए, सरयु और सरयु शब्द के दोनों प्रकार हैं, 'सर' यह जल का नाम है, जल को जो जोड़ती है वह 'सरयु' कहलाती है, वहां से तीर्थराज प्रयाग में विशेष स्नान तर्पण आदि किए, पश्चात् उत्तर भाग में पुलह के आश्रम हरिहर क्षेत्र में गए ॥९-१०॥

श्लोक—**गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः।**
गयां गत्वा पितॄनिष्ट्वा गङ्गासागरसङ्गमम् ॥११॥

श्लोकार्थ—गोमती, गण्डकी और विपाशा में स्नान कर फिर शोणनद में न्हाए, पश्चात् 'गयाजी' में जाकर पितृतर्पण किया अनन्तर गङ्गासागर संगम पर भी जाके तर्पण किया ॥११॥

सुबोधिनी—गमनमध्य एव **गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा। विपाशा** काचित् क्षुद्रा पञ्चनद्यां प्रविष्टा हरिक्षेत्रनिकट एव, अन्या तु **विपाशा** काश्मीरदेशे, ततः शोणे समागतः। गङ्गामुत्तीर्य सोऽपि महानद इति **शोणे आप्लुत** इत्युक्तम्। ततो **गयां गत्वा** सामान्य-**पितॄनिष्ट्वा** पितामहपित्रादीन्वा, केवलगयाभिगमनं जीवत्पितृकस्य निषिद्धम्। यात्रायां तु न निषिद्धमिति विभागः। ततो **गङ्गासागरसङ्गमं** गतः। सर्वत्र स्नानतर्पणादि ॥११॥

व्याख्यार्थ—जाते-जाते बीच में गोमती और गण्डकी में स्नान कर फिर विपाशा में भी स्नान किया। विपाशा कोई क्षुद्र नदी हरि क्षेत्र के समीप पञ्च नदी में मिली हुई है, दूसरी विपाशा नदी काशमीर देश में है, वहाँ से शोण नद पर आए, गङ्गा पार होकर वहाँ पहुँचे, वह भी महानद है, इसलिए उस शोण महानद में स्नान किया। पश्चात् 'गयाजी' जाकर वहाँ सामान्य पितरों का पूजन तर्पण आदि किया अथवा पितामह आदि पितरों का तर्पण आदि किया, जिसका पिता जीवित हो, उसको केवल गया पर नहीं जाना चाहिए, किन्तु तीर्थों की यात्रा करने जावे तो वहाँ भी जा सकता है अनन्तर गङ्गा सागर गए, सर्व तीर्थों में स्नान तर्पण आदि किया ॥११॥

श्लोक—**उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च।**
सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं ततः ॥१२॥

श्लोकार्थ—वहां गङ्गासागर में स्नान कर महेन्द्र पर्वत पर परशुराम के दर्शन कर तथा उनको नमस्कार कर, सप्तगोदावरी, वेणा और पम्पा से होते हुए भीमरथी पर पहुंचे ॥१२॥

सुबोधिनी—ततो मध्ये तदानीं पुरुषोत्तमस्थानमात्रं न भगवानस्तीति तदनुक्त्वा **महेन्द्राद्रिं** गतः। तत्र परशु**रामं दृष्ट्वा अभिवाद्य** च ज्येष्ठत्वात्। ततः **सप्तगोदावरीं** गतः। यत्र सप्तधा गोदावरी समुद्रं गता। ततः कृष्णवेण्यां तस्या अपि संगमं गतः। ततो देशमध्ये समागत्य निवृतिसंगमे पाण्डुरङ्गे वा **भीमरथीं** गतः। **पम्पां** च सरः विद्यानगर समीपे ॥१२॥

व्याख्यार्थ—वहाँ से महेन्द्र पर्वत पर पहुँचे, मध्य मार्ग में पुरुषोत्तम स्थान है, किन्तु वहाँ भगवान् नहीं विराजते हैं, केवल स्थान मात्र था, इसलिए उसको नहीं कहा, वहाँ महेन्द्र पर्वत पर परशुराम के दर्शन कर नमस्कार की; क्योंकि वे आप से बड़े हैं। पश्चात् सप्तगोदावरी गए अर्थात्

जहाँ गोदावरी सप्तधारा हो समुद्र में प्रवेश करती है, वहाँ पहुँचे, फिर कृष्णवेणी का जहाँ संगम हुआ है, वहाँ पधारे अनन्तर मध्यदेश में आकर निवृत्ति संगम पाण्डुरंग अथवा भीमरथी पर गए, पम्पासर विद्यानगर के समीप है ।।१२।।

श्लोक—**स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम् ।**
द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं प्रभुः ।।१३।।

श्लोकार्थ—स्वामी कार्तिकेय के दर्शन कर, बलरामजी महादेवजी के निवास स्थान श्री शैल पर्वत पर गए, द्रविड देश में महा पवित्र श्रीरङ्ग क्षेत्र में पधारे ।।१३।।

सुबोधिनी—तत्रैव **स्कन्दं दृष्ट्वा** ततः **श्री शैलं** गतः । अनेन देशमध्ये परिभ्रमणं कृत्वापि सर्वाणि तिर्थानि कृतानीत्युक्तम् । ततः पूर्वभागे **श्री शैले** किमिति गतमित्याकाङ्क्षायामाह **गिरिशालय**मिति । तत्र महादेवं दृष्ट्वा **द्रविडदेशेषु** महापुण्यजनकं **वेङ्कटाद्रिं** भगवद्रूपं ददर्श । स हि पर्वत एव विष्णुरूपः । यथा नारायणः ।।१२।।

व्याख्यार्थ—वहाँ ही स्वामी कार्तिकेय के दर्शन कर, पश्चात् श्री शैल पर्वत पर पधारे । इस देश के मध्य में परिभ्रमण कर सब तीर्थ किए, पश्चात् पूर्व भाग श्री शैल पर्वत पर क्यों गए? इसके उत्तर में कहते हैं कि वहाँ महादेवजी का गृह है, वहाँ महादेवजी के दर्शन कर द्रविड़ देशों में महा-पुण्यदायी श्री वेङ्कटेश प्रभु के दर्शन किए, वह पर्वत ही विष्णुरूप है, जैसे नारायण ।।१३।।

श्लोक **कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम् ।**
श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र संनिहितो हरिः ।।१४।।

श्लोकार्थ—फिर कामकोष्णी कांचीपुरी, उत्तम नदी कावेरी जाकर महापवित्र श्रीरङ्ग क्षेत्र पधारे जहाँ हरि भगवान् विराजे हैं ।।१४।।

सुबोधिनी— ततः **कामकोष्णीं** कामाक्षी शिवकाञ्चीति प्रसिद्धा ततः **काञ्ची** पुण्यकोटिः ततः **कावेरी** श्रीरङ्गस्थाने । तत्र **श्रीरङ्गं च महापुण्यहेतुं** ददर्श । सर्वायतनापेक्षया श्रीरङ्गं विशेषमाह **यत्र संनिहितो हरि**रिति ।।१४।।

व्याख्यार्थ—वहाँ से कामकोष्णी अर्थात् कामाक्षी जो शिवकाञ्ची नाम से प्रसिद्ध है, फिर पुण्य कोटि काञ्ची आए, वहाँ से कावेरी पहुँचे, जो श्रीरङ्गजी का स्थान है । वहाँ महापुण्य के हेतु श्रीरङ्गजी का दर्शन किया, सकल मूर्तियों की अपेक्षा श्रीरङ्ग स्वरूप की विशेषता दिखाते हैं कि जिस स्वरूप में हरि साक्षात् विराजते हैं ।।१४।।

श्लोक—**ऋषभाद्रि हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा ।**
समुद्रसेतुमगमन्महापातकनाशनम् ।।१५।।

श्लोकार्थ—हरि का क्षेत्र ऋषभाचल, व दक्षिण मथुरा जाकर महापातकों का नाश करने वाले सेतुबन्ध पर पधारे ।।१५।।

सुबोधिनी—ततः **ऋषभाद्रिः** । तस्यैवापर-भागे तच्छिवक्षेत्रं विष्णुक्षेत्रं वेति सन्देहे निर्णया-र्थमाह **हरेः क्षेत्र**मिति । ततो **दक्षिणमथुरां** गतः । यामानमथुरेति प्रसिद्धाः ततः **समुद्रसेतुमगमत्** । सेतुबन्धे गतः । तस्य माहात्म्यमाह **महापातक-नाशन**मिति तदत्यन्तं पुण्यतममिति ।।१५।।

व्याख्यार्थ—वहाँ से ऋषभाचल पधारे, उसके ही ऊपर भाग में जो क्षेत्र है, वह शिवक्षेत्र है? वा विष्णु क्षेत्र है? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'हरेः क्षेत्रं' कहा है अर्थात् यह ऊपर भाग हरि का क्षेत्र है, पश्चात् दक्षिण मथुरा गए, जो मान मथुरा नाम से प्रसिद्ध है, अनन्तर सेतुबन्ध गए, उसका माहात्म्य कहते हैं कि महापातकों को भी नाश करने वाला है, वह अत्यन्त पुण्य देने वाला है।।१५।।

श्लोक—**तत्रायुतमदाद्धेनूर्ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः ।**
कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयं च कुलाचलम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—वहां बलदेवजी ने ब्राह्मणों को दश हजार गौ, दान में दी, फिर कृत-माला, ताम्रपर्णी, कुलाचल और मलय पर्वत पर पधारे जहाँ अगस्त्यजी विराजे थे ।

सुबोधिनी—तत्र **धेनूनामयुतं** प्रादात् । तोर्थ-वासिभ्यो दानशङ्कां वारयितुमाह **ब्राह्मणेभ्य** इति । यद्यपि तत् स्थानं स्वकृतमेव ततश्च न ज्ञातवानिति ख्यापयितुं **हलायुध** इत्युक्तम् । ततः **कृतमाला** अग्रे दक्षिणसमुद्रसमीपे । ततस्ता**म्र-पर्णी** तत्रैव **मलयः कुलालयः** यत्रागस्त्यस्थानम् ।।१६।।

व्याख्यार्थ—वहाँ दस सहस्र गौओं का दान किया, वह दान तीर्थ पर रहने वालों को दिया होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि गौदान ब्राह्मणों को दिया, यद्यपि वह स्थान आपका ही बनाथा हुआ है तो भी उसकी पहचान नहीं, इसलिए 'हलायुध' नाम दिया है, पश्चात् कृतमाला गए, वह आगे दक्षिण समुद्र के पास ही है, वहाँ से ताम्रपर्णी गए, वहाँ ही मलय और कुलाचल पर्वत हैं, जहाँ अगस्त्य ऋषि का आश्रम है ।।१६।।

आभास—ततस्तत्राऽऽगत्य अगस्त्यनमस्कारं कृतवानित्याह **तत्रागस्त्य**मिति ।

आभासार्थ—पश्चात् जहाँ अगस्त्यजी विराजते थे, वहाँ आकर उनको नमस्कार की, जिसका वर्णन 'तत्रागस्त्यं' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च ।**
योजितस्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ।
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ।।१७।।

श्लोकार्थ—वहां ध्यान में स्थित अगस्त्यजी को प्रणाम कर फिर नामोच्चारण-पूर्वक अभिवादन कर आशीर्वाद ली, अनन्तर आज्ञा पाकर दक्षिण समुद्र पधारे वहाँ कन्या नाम वाली [१] दुर्गादेवी के दर्शन किए ।।१७।।

सुबोधिनी—**समासीनं** तपः कुर्वाणं स्थिरासनं वा भगवच्चिन्तकम् । नमस्कारः माहात्म्यख्यापकः । साष्टाङ्गं अभिवादनं नामोच्चारणपूर्वकम् । चकारात्तस्य स्तोत्रमपि कृतवानिति ज्ञायते । अतस्तेनाशीर्भिर्योजितः। ततोऽप्यनुज्ञातः **दक्षिण**समुद्रस्थानं **गतः**। यत्र कन्याकुमारी तिष्ठति । ततस्तामपि दृष्टवानित्याह **तत्र कन्याख्यां दुर्गामिति** । लक्ष्म्यंशत्वं वारयितुं दुर्गापदम् । सा च **देवी** देवतारूपा पूर्वं मानुष्यपि देवतारूपा जाता ।।१७।।

व्याख्यार्थ—जब बलरामजी वहां पधारे, तब अगस्त्यजी तपस्या कर रहे थे, जिससे आपका आसन स्थिर था अथवा भगवच्चिन्तन कर रहे थे, बलरामजी ने नमस्कार की, यह नमस्कार ऋषि के माहात्म्य का ख्यापक था, फिर नाम का उच्चारण करते हुए साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया । 'च' पद का आशय है कि स्तुति भी की, यों नमन अभिवादन करने से प्रसन्न ऋषि ने बलरामजी को आशीर्वाद दी । आशीर्वाद ग्रहण करने के अनन्तर जाने की आज्ञा ली, आज्ञा पाकर दक्षिण समुद्र पधारे, जहां कन्याकुमारी विराजती है, जाने के बाद उनके दर्शन किए, इसका नाम दुर्गा इसलिए दिया है कि इसमें लक्ष्मी का अंश नहीं है, वह देवी देवतारूप है, पहले मनुष्य रूप होते हुए भी देवता रूप थी ।।१७।।

श्लोक—**ततः फाल्गुनमासाद्य पञ्चाप्सरसमुत्तमम् ।**
विष्णुः संनिहितो यत्र स्नात्वास्पर्शद्गवायुतम् ।।१८।।

श्लोकार्थ—दुर्गा के दर्शन करने के बाद, फाल्गुन तीर्थ पर आये, उत्तम पञ्चाप्सरस नाम तीर्थ पर पधारे, जहाँ विष्णु भगवान् सदा सन्निहित हैं उसमें स्नान कर दश हजार गौ दान में दी ।।१८।।

सुबोधिनी—**ततः फाल्गुनं** अनन्तशय्यां गतः। तत्रार्जुनस्य पञ्चाप्सरसां पादगृहीतानामुद्धारणात्तन्नाम्नैव तत्प्रसिद्धं जातं तदाह **पञ्चाप्सरसमिति** । **उत्तमं** स्थानमेव तत्, तस्य स्थानस्य माहात्म्यमाह **विष्णुः संनिहितो यत्रेति** । तत्रापि **स्नात्वा** सेताविव **गवामयुतं** दत्तवान् ।।१८।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् फाल्गुन तीर्थ जिसको अनन्त शय्या कहते हैं, वहां गए । अनन्तर पञ्चाप्सरस तीर्थ जो उत्तम स्थान है, वहां पधारे । शरणागत पाञ्च-अप्सराओं का अर्जुन द्वारा वहां उद्धार हुआ है, इसलिए इसका नाम पञ्चाप्सर पड़ा है, इस स्थान पर विष्णु सदैव विराजते हैं । यही इसका माहात्म्य है, वहां भी स्नान कर सेतु की तरह यहां भी दस सहस्र गौ दान की ।।१८।।

१– 'कन्याकुमारी' नाम से प्रसिद्ध है

श्लोक—**ततोविव्रज्य भगवान् केरलान् स्तोक्यगर्तकान् ।**
गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सांनिध्यं तत्र धूर्जटेः ।।१९।।

श्लोकार्थ—फिर बलरामजी बहुत शीघ्र केरल स्तोक्य और गर्तक भेद वाले देश में आकर गोकर्ण नाम वाले शिव के क्षेत्र में पधारे जहाँ महादेव सदैव विराजते हैं ।

सुबोधिनी—**ततोतिव्रज्य** शीघ्रं तद्देशोल्लङ्घनार्थमतिव्रजनम् । यतोऽयं **भगवान्** । तत्र देशे भेदत्रयमाह **केरलान्** स्तोक्यान् गर्तकाश्चेति । स एव मल्लिवार इति प्रसिद्धः । ततोग्रे **गोकर्णाख्यं** रावणेन नीयमानो महादेवः तत्र स्थापितः नोद्धर्तुं शक्य आसीत् तत उत्पाट्यमानः गोकर्णाकृतिर्जातः **तच्छिवक्षेत्रम्**। तत्र **धूर्जटेः सांनिध्यं** सर्वदैव ।।१९।।

व्याख्यार्थ—वहाँ से शीघ्र गए; क्योंकि उस देश को उल्लङ्घन करना था; क्योंकि ये भगवान् हैं । उस देश के तीन भाग हैं—(१)केरल, (२)स्तोक्य और (३)गर्तक; वह ही मलबार नाम से प्रसिद्ध है । उससे आगे गोकर्णाख्य तीर्थ है । वहाँ रावण ने महादेव लाकर स्थापित किया, किन्तु वहाँ से फिर उठाकर लेजा न सके, उठाने के समय महादेव गोकर्ण जैसी आकृति वाले बन गए, जिससे इस तीर्थ का नाम गोकर्ण प्रसिद्ध हुआ, वह शिव का क्षेत्र है, वहाँ सर्वदा ही शिव का सानिध्य है ।।१९।।

श्लोक—**आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद्बलः ।**
तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम् । २०।।

श्लोकार्थ—जहाँ व्यासजी ने तप किया, उस आर्या नदी से होकर शूर्पारक आए, पश्चात् तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्या में स्नान कर दण्डकारण्य पधारे ।।२०।।

सुबोधिनी—तत **आर्यां नदीं द्वैपायनस्य** तपःसंबन्धिनीम् । ततः **शूर्पारक**स्थानं कृष्णवेण्याम् । **ततस्तापी** नदी **पयोष्णी निर्विन्ध्या** च ततस्ततः। ततो **दण्डकारण्यं** प्रविष्टः ।।२०।।

व्याख्यार्थ—द्वैपायन व्यास से तपस्या के कारण सम्बन्ध वाली आर्या नदी से होकर शूर्पारक स्थान अर्थात् कृष्णवेणी नदी पर आए, पश्चात् तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्या में स्नान करते हुए दण्डकारण्य में प्रविष्ट हुए ।।२०।।

श्लोक—**प्रविश्य रेवामगमद्यत्र माहिष्मती पुरी ।**
मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत् ।।२१।।

श्लोकार्थ—रेवा नदी में स्नान कर महिष्मती नगरी में आए, वहाँ मनुतीर्थ में नहाकर, फिर प्रभास आए ।।२१।।

सुबोधिनी—तत्र च **रेवां** नर्मदामगमत्। **यत्र** मण्डपाचलनिकटे **माहिष्मती** नाम **पुरी** पूर्वं प्रसिद्धा। ततस्तीरे गच्छन् **मनुतीर्थमुपस्पृश्य** समुद्रसंगमपर्यन्तमागत्य पुनः **प्रभासमागमत्**। एवं मण्डलेन भारतवर्षस्य परिभ्रमणमुक्तम्। एतावतापि वर्षो न पूर्णः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—रेवा अर्थात् नर्मदा पर गए, जहाँ मण्डप पर्वत के समीप महिष्मती नाम वाली पुरी पहले प्रसिद्ध थी, वहां से किनारे-किनारे जाते हुए मनु तीर्थ पर पहुँचे, जहाँ स्नान किया, बाद में समुद्र सङ्गम तक आकर फिर प्रभास पधारे। इस प्रकार मण्डल की तरह भारतवर्ष परिभ्रमण किया, तो भी वर्ष पूर्ण न हुआ ॥२१॥

श्लोक—**श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे।**
सर्वराजन्यनिधनं भारं मेने हृतं भुवः ॥२२॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों का कथन—कौरव-पाण्डवों के युद्ध में सब राजाओं का नाश हो गया—सुनकर बलदेवजी ने माना कि पृथ्वी से भार उतरा ॥२२॥

सुबोधिनी—ततोऽग्रे पुनर्भ्रमणार्थं गच्छन् कुरुक्षेत्रनिकटे गतः। तत्रत्यैर्द्विजैः **कथ्यमानं कुरुपाण्डवानां संयुगे** तत्संबन्धिनां **सर्वेषां राज्ञां निधनं श्रुत्वा भुवो भारं हृतं मेने** ॥२२॥

व्याख्यार्थ—वहां से भी आगे भ्रमण करते हुए बलरामजी कुरुक्षेत्र के निकट पहुँचे, वहां के ब्राह्मणों के कथन से कि कौरव-पाण्डवों के युद्ध में उनके सम्बन्धी सब मारे गए हैं, सुनकर समझा कि पृथ्वी का भार कम हुआ ॥२२॥

आभास—ततस्तैरेव गदायुद्धमपि जायत इति श्रुत्वा भूभारस्तु हृत एव उद्देशान्तरं नास्तीति यथा पञ्चपाण्डवा जीवन्ति एवमेको दुर्योधनोपि जीवतां किं मरणेनेति निश्चित्य विनशनप्रदक्षिणां कुर्वन् तत्र समागत इत्याह **स भीमदुर्योधनयोरिति**।

आभासार्थ—पश्चात् उन ब्राह्मणों ने ही कहा कि भीम-दुर्योधन की परस्पर गदायुद्ध अभी तक चल रही है। यह सुनकर पृथ्वी का भार तो उतर गया, अब युद्ध का कोई उद्देश नहीं है, जैसे पांच पाण्डव जीते हैं, वैसे ही एक दुर्योधन भी जीता रहे, मरने से क्या लाभ? यों निश्चयकर कुरुक्षेत्र की परिक्रमा करते हुए वहां आए, जिसका वर्णन 'स भीमदुर्योधनयोः' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**स भीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतोर्मृधे।**
वारयिष्यन् विनशनं जगाम यदुनन्दनः ॥२३॥

श्लोकार्थ—भीमसेन और दुर्योधन गदायुद्ध कर रहे हैं, यह सुनकर उन्हें मना करने के विचार से बलदेवजी कुरुक्षेत्र पधारे ॥२३॥

सुबोधिनी—**स** रामः। **भीमदुर्योधनयोः गदाभ्यां युध्यतोः** सतोः युद्धं **वारयिष्यन् विनशनं** कुरुक्षेत्रमागतः। इदानीमागमने पक्षपातशङ्का नास्तीति तस्यागमनम्। यतो **यदुनन्दनः** यदुरिव विचारितार्थकर्ता, स्नेहादिना पक्षपातरहितः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—बलरामजी गदाओं से लड़तेहुए भीमसेन और दुर्योधन को युद्ध करने से रोकने के लिए कुरुक्षेत्र आए, इस समय आने में पक्षपात की शङ्का नहीं, इसलिए उसका आगमन हुआ; क्योंकि यदुनन्दन हैं, अतः यदु की तरह विचार पूर्वक कार्य करने वाले हैं, स्नेह आदि कारण से पक्षपात करने वाले नहीं है ॥२३॥

आभास—ततः सर्वेषां शङ्का जातेत्याह **युधिष्ठिरस्त्विति**।

आभासार्थ—पश्चात् जो वहाँ उपस्थित थे उनको शङ्का हुई, यों 'युधिष्ठिरस्तु' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्जुनावपि।**
अभिवाद्याभवंस्तूष्णीं किं विवक्षुरिहागतः ॥२४॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्ण और अर्जुन, बलराम को अभिवादन कर चुप हो गए, मन में विचारने लगे यहां क्यों आये हैं? और न जाने क्या कहेंगे? ॥२४॥

सुबोधिनी—**तं** रामम्। तुशब्देन साधारणानां विद्वेषिणां च सुखं जातमिति सूचितम्। युधिष्ठिरप्रभृतीनां तु ततोन्यथेति अन्यपक्षो व्यावर्तितः। **यमौ** नकुलसहदेवौ। सर्व एवा**भिवाद्य तूष्णीमभवन्**। तेषामालोचनमाह **किं विवक्षुरिहागत** इति। क्रियाप्रयोजनं तु निवृत्तं वाङ्मात्रमवशिष्यत इति तस्यैवोत्प्रेक्षा ॥२४॥

व्याख्यार्थ—'तु' शब्द से साधारण और शत्रुओं को आनन्द उत्पन्न हुआ, कारण कि बलरामजी आए हैं। युधिष्ठिर प्रभृति अन्यों को आनन्द न हुआ, किन्तु विचार हुआ कि क्यों आए हैं? क्या कहेंगे? युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, अर्जुन और श्रीकृष्ण अभिवादन कर चुप हो गए, जो कर्त्तव्य करना था, उसका प्रयोजन तो निवृत्त हो गया, केवल वह वाणी में ही रह गया है, यों उसकी ही उत्प्रेक्षा (सम्भावना) है ॥२४॥

आभास—ततः स्वयमेव स्वागतं प्रकटीकृतवानित्याह **गदापाणी उभाविति**।

आभासार्थ—पश्चात् स्वयं (खुद) ही स्वागत प्रकट करने लगे, यों 'गदापाणी' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ ।**
मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत् ॥२५॥

श्लोकार्थ—क्रोध में भरे हुए, जय की इच्छा वाले, गदा हाथ में लिए विचित्र दाव करते हुए भीम और दुर्योधन को देखकर बलदेवजी उनको यह कहने लगे ॥२५॥

सुबोधिनी—युद्धार्थं हस्ते गदा उभयोरपि । अतः साधनमाह **संरब्धाविति** । अनिवृत्त्यर्थं कामनामाह **विजयैषिणाविति**। तदर्थं यत्नमप्याह **मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविति** । नह्येवं प्रवृत्तौ कदाचित्स्वतो निवृत्तौ भवतः । तस्माज् ज्ञानेनैव निवृत्तिरिति ज्ञानोपदेशार्थमागतः इदं वक्ष्यमाण**मब्रवीत्** ॥२५॥

व्याख्यार्थ—लड़ाई करने के लिए दोनों के हाथ में गदा थी, साधन था क्रोध; दोनों क्रोध में थे और दोनों चाहते थे कि हम जीतें। इसलिए युद्ध बन्द नहीं होता था। जीतने के लिए दोनों प्रयत्न भी कर रहे थे अर्थात् अनेक प्रकार के दांव-पेच से जीतने के लिए खेलते थे,जो इस तरह लड़ते रहते हैं, वे कदापि स्वतः लड़ना नहीं छोड़ते हैं, इस कारण से उनकी युद्ध से निवृत्ति ज्ञान से ही होने वाली थी, जिस ज्ञानोपदेश देने के लिए बलरामजी पधारे थे, अब जो कहना है, वह निम्न श्लोक में कहते हैं ॥२५॥

आभास—उभयोरादौ प्रशंसामाह **युवां तुल्यबलाविति ।**

आभासार्थ—पहले दोनों की प्रशंसा 'युवां' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर ।**
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! हे वृकोदर ! तुम दोनों तुल्य बल वाले वीर हो एक बल में अधिक है और एक शिक्षण में अधिक है ॥२६॥

सुबोधिनी— उभयोर्भिन्नतया संबोधनं **हे राजन् हे वृकोदरेति** । **राजन्निति** संबोधनादेकोपि जीवितः राज्यमेव प्राप्स्यतीति निश्चितम् । ननु भीमश्च बलभद्रश्चेति वाक्यात् कथं भीमसमो दुर्योधन इति चेत् तत्राह **एकं प्राणाधिकं मन्य** इति । **एकं** भीमं **प्राणेन** बलेन द्वितीया**दधिकं मन्ये** । अपरं राजानं भीमापेक्षया **शिक्षया** मयैव कृतया **अधिकं मन्ये** ॥२६॥

व्याख्यार्थ—दोनों को पृथक्-पृथक् सम्बोधन दिए हैं—हे राजन् !, हे वृकोदर ! 'हे राजन्' इसी सम्बोधन से यह बताया है कि एक भी जीवित होगा तो राज्य को प्राप्त करेगा, यह निश्चित है। 'भीमश्च बलभद्रश्च' इस वाक्यानुसार भीम के समान दुर्योधन कैसे होगा? यदि यों कहो तो उसका

उत्तर यह है कि भीमसेन को दुर्योधन से बल में अधिक मानता हूँ अर्थात् भीम दुर्योधन से बलवान् है, दुर्योधन भीम से शिक्षा से अधिक है; क्योंकि उसको मैंने ही शिक्षा दी है, इसलिए विशेष है ॥२६॥

आभास—तर्ह्येवं सति किं भविष्यतीत्याशङ्क्यायामाह **तस्मादेकतरस्येति ।**

आभासार्थ—यों है तो क्या होगा ? इस पर 'तस्मादेकतरस्य' श्लोक से उत्तर देते हैं।

श्लोक—**तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः ।**
न लक्ष्यते जयोन्यो वा विरमत्वफलो रणः ॥२७॥

श्लोकार्थ—तुम दोनों समान बल वाले हो इसलिए कोई एक न जीत सकेगा न हारेगा, इसलिए लड़ना निष्फल होने से युद्ध बन्द करो ॥२७॥

सुबोधिनी—बलांशः शिक्षांशेन समो भविष्यतीति अतः **एकतरस्यापि युवयोर्मध्ये** अर्थात्समवीर्यता जातेति **जयः, अन्यः** पराजयो वा न **लक्ष्यते** । अतो निष्फलः अयं क्लेशरूपो **रणः विरमतु** निष्फलत्वात् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—बल का अंश शिक्षा के अंश से समान है, अतः तुम दोनों में से एक की भी जय वा पराजय नहीं होगी, अतः यह लड़ाई केवल क्लेशरूप है, इससे कोई फल नहीं निकलेगा, इसी कारण युद्ध बन्द करो ॥२७॥

आभास—एवमुक्तावपि न निवृत्ताविंत्याह **न तद्वाक्यं जगृहतुरिति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार कहने पर भी युद्ध बन्द नहीं किया, जिसका वर्णन निम्न दो श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—**न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत् ।**
अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च ॥२८॥

दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ ।
उग्रसेनादिभिः प्रीतैर्ज्ञातिभिः समुपागतः ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे नृप! परस्पर कहे हुए दुर्वचन और कुकृत्य को याद करते हुए दोनों ने आपस में शत्रुता कर ली है, अतः बलदेवजी के लाभ वाले वचन नहीं माने ॥२८॥

तब बलरामजी ने समझ लिया कि मेरे भी वचन नहीं मानते हैं, तो इनका

प्रारब्ध ही यों है, इसलिए आप द्वारका पधारे, उग्रसेन आदि सब बलरामजी को आया हुआ देखकर प्रसन्न हुए ।।२६।।

सुबोधिनी— यतो **बद्धवैरौ** । यद्यप्यर्थवत् आन्तरमनिवर्तकं बाह्यो निवर्तक इति । ततो **रामः** तत्तेषामनिवर्तनं **दिष्टं** भाग्याधीनं इति **मन्वानः**, यथाभाग्यं भविष्यतीति स्वयं यात्रां कुर्वन्नेव **द्वारवतीं** ययौ । बलभद्रे बहुकाले गृहागते नष्टलब्धधना इव **उग्रसेनादयः** समागताः तं गृहे निन्युः ।।२८।।२६।।

व्याख्यार्थ—बलदेवजी की लाभकारी शिक्षा भी नहीं मानी; क्योंकि आपस में शत्रुता कर ली थी । यद्यपि आपकी शिक्षा अर्थ वाली थी, बाहर तो लड़ाई बन्द करने के विचार आते थे, किन्तु भीतर का हृदय युद्ध से हटता नहीं था, इससे बलरामजी ने समझा कि लड़ाई बन्द नहीं करते हैं, यह भाग्य के आधीन है, जैसा भाग्य होगा, वैसा ही होगा; यों विचार कर आप यात्रा करते हुए द्वारका पहुँचे । बहुत समय से बलरामजी घर आए हैं, यह देख जैसे किसी का धन चला गया हो, वह फिर मिल जावे तो जैसी उसको प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता उग्रसेनादि को हुई, जो आकर उन्हें घर ले गए ।।२८-२६।।

आभास—ततो यात्राया अनिवृत्तत्वात् पुननैंमिषे समागतः । एतावता वर्षः पूर्णः

आभासार्थ—यात्रा पूर्ण न होने से फिर नैमिषारण्य में आए, इतने में वर्ष भी पूर्ण हुआ ।

श्लोक—**तं पुननैंमिषं प्राप्तमृषयोऽयाजयन्मुदा ।**
क्रत्वङ्गं क्रतुभिः सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहम् ।।३०।।

श्लोकार्थ—नैमिषारण्य में आए हुए बलरामजी को ऋषियों ने यज्ञ कराया अथवा क्रतु जिसका अङ्ग है, ऐसे भगवान् का क्रतु द्वारा भजन कराया, इन क्रतुओं के करने से सर्व प्रकार का विग्रह करना, वह भी निवृत्त हो गया ।।३०।।

सुबोधिनी—ततः **ऋषयस्तं मुदा अयाजयन्** । **सर्वैरेव क्रतुभिरग्निहोत्रादिभिः** । क्रत्वङ्गमिति पित्रादिषु जीवत्सु कथं सर्वे यागाः कृता इति शङ्का व्युदस्ता । यतोऽयं **क्रत्वङ्गः** क्रतवः अङ्गानि अङ्गेषु वा यस्येति, **तमयाजयन्,क्रत्वङ्गं** वा भगवन्तम् । तस्मिन् पक्षे याजने रामः कर्म, यजने भगवानिति । क्रतोरङ्गमिति यजमानम् 'पुरुषस्य च कर्मार्थत्वात्' इति न्यायात् । यक्ष्य इति । सङ्कल्पे कृते पश्चाद्याजितवन्त इत्यर्थः । नन्वयं भूतदयारहितः संकर्षणः प्रलयकर्ता कथं यज्ञकर्ता सर्वमैत्रीकरणानन्तरमेव यज्ञाधिकारादत आह **निवृत्ताखिलविग्रह**मिति । निवृत्तः अखिलैः सह विग्रहः कलहो यस्य ।।३०।।

व्याख्यार्थ—इनके आने के पश्चात् ऋषियों ने इनको प्रसन्नचित्त हो यज्ञ कराया, सर्व क्रतुओं से अर्थात् अग्निहोत्र आदि से यज्ञ कराया, पिता जीवित होते हुए सब याग कैसे किए ? इस शङ्का

का निवृत्ति के लिए कहा है, कि 'क्रत्वङ्ग' क्रतु है अङ्ग जिसके, अथवा क्रतु है अङ्गों में जिसके, ऐसे भगवान् यज्ञ पुरुष का भजन यजन कराया, उस पक्ष में याजन में राम कर्म है और यजन में भगवान् कर्म है । 'क्रतोः अङ्ग' इससे यजमान कहा 'पुरुषस्य च कर्मार्थत्वात्' पुरुष कर्म रूप है, इस न्याय से 'यक्ष्ये' यों सङ्कल्प कर पश्चात यज्ञ करने लगे । यह सङ्कर्षण भूतों पर दया कभी नहीं करते हैं, क्योंकि प्रलयकर्त्ता हैं, वह यज्ञकर्ता कैसे हुए ? सबसे जो मैत्री करता हो वह यज्ञ का अधिकारी होता है, इस शङ्का के मिटाने के लिए कहा है कि सबसे लड़ना जिसने छोड़ दिया है अर्थात् अब सबसे मैत्री ही करते हैं ।। ३० ।।

आभास—ततो दक्षिणात्वेन तेभ्यो ज्ञानं दत्तवानित्याह **तेभ्यो विशुद्धविज्ञानमिति**।

आभासार्थ—अनन्तर दक्षिणा में उनको ज्ञान दिया, जिसका वर्णन 'तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान् व्यतरद्विभुः ।**
येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ।।३१।।

श्लोकार्थ—सर्व समर्थ भगवान् बलदेव ने इनको विशुद्ध ज्ञान दिया, जिससे आत्मा में सर्व विश्व को और विश्व में आत्मा को जान गए ।।३१।।

सुबोधिनी— 'दक्षिणा ज्ञानसंदेशः' इति वाक्यात् 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति श्रुतेश्च 'आत्मदक्षिणं वै सत्रम्' इति च 'आत्मानमेव दक्षिणां नीत्वा स्वर्गं लोकं यन्ति' इति च ज्ञानदक्षिणैव दक्षिणा । **विशुद्धं** ज्ञानमनुभवरूपं निरुपाधिकम् । ननु कर्मासक्तानां तेषां कथमकस्माज् ज्ञानमभूत् तत्राह **भगवान् व्यतरद्विभुरिति** । भगवत्त्वात् तादृशज्ञानवत्त्वं वितरणं च । वितरणे नहि दानपात्रापेक्षा, विभुत्वात्सर्वसामर्थ्यम् । तस्मिन् ज्ञाने प्राप्ते तेषां कावस्था जातेत्याकाङ्क्षायामाह **येनैवात्मन्यदो विश्वमिति** । परोक्षमपि विश्वमात्मन्यपश्यन् विश्वस्मिंश्चात्मानं तदाह **आत्मानं विश्वगमिति** ।।३१।।

व्याख्यार्थ—'दक्षिणा ज्ञान संदेशः' इस वाक्य से 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इस श्रुत्यनुसार 'आत्मदक्षिणं वै सत्रम्' इस वाक्य और 'आत्मानं एव दक्षिणा नीत्वा स्वर्गं लोकं यन्ति' इस वचनानुसार ज्ञान रूप दक्षिणा ही दक्षिणा है, विशुद्ध ज्ञान का तात्पर्य है, उपाधिरहित अनुभव रूप ज्ञान, कर्म में आसक्ति में ऐसा ज्ञान अकस्मात् कैसे उत्पन्न हो गया ? इसका उत्तर देते हैं कि ज्ञान देने वाले सर्व समर्थ भगवान् बलदेवजी हैं । भगवान् होने से वैसा ज्ञानवान्पण है और वितरण भी है, अतः वितरण में दानपात्र की उपेक्षा नहीं है ऐसे विशुद्ध ज्ञान पाने से उनकी क्या अवस्था हुई ? जिसका उत्तर देते हैं कि परोक्ष भी विश्व को आत्मा में देखा और विश्व में आत्मा को देखा, इस प्रकार की ऋषियों की अवस्था हो गई ।। ३१ ।।

आभास—ततो दक्षिणादानानन्तरं यज्ञसमाप्तिं च कृतवन्त इत्याह **स्वपत्न्येति** ।

आभासार्थ—पश्चात् दक्षिणा दान के अनन्तर यज्ञ की समाप्ति की, यों 'स्वपत्न्यावभृथस्नातो' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**स्वपत्न्यावभृथस्नातो ज्ञातिबन्धुसुहृद्वृतः ।**
रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः सुवासाः सुष्ठ्वलंकृतः ।।३२।।

आभास—बलरामजी ने अवभृथ स्नान स्वपत्नी के साथ किया, ज्ञाति,बान्धव और मित्रों से वेष्टित सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण धारण किए । बलदेवजी स्त्री के साथ यों शोभा पाने लगे जैसे चन्द्रमा चाँदनी से शोभा देता है ।।३२।।

सुबोधिनी—रेवती रामस्य पत्नी तया सह **अवभृथे स्नातः** । स्नान एव **ज्ञात्यादिभिर्वृतः** । पश्चाद्वा शोभार्थं निरूप्यते शोभायां पत्नी च हेतुभूता जातेत्याह **रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुरिति** । अन्यथा दिवसे धूसरश्चन्द्रो न शोभते । तस्यावभृथादुत्तीर्णस्य परमशोभां प्राप्तस्य पश्चाल्लौकिकवस्त्राभरणानि प्रतिपत्त्यर्थं निरूप्यते **सुवासाः सुष्ठ्वलंकृत** इति ।।३२।।

व्याख्यार्थ—रेवती बलरामजी की स्त्री है, उसके साथ यज्ञान्त स्नान किया । ज्ञाति आदि से वेष्टित हो केवल स्नान किया, पश्चात् शोभा का वर्णन करते हैं, शोभा में पत्नी कारण भूत है, वे वैसे शोभा पाने लगे जैसे चन्द्रमा चान्दनी से शोभा पाता है, नहीं तो दिवस (दिन) में धूसर चन्द्रमा शोभता नहीं, यज्ञान्त स्नान कर लेने के बाद की परम शोभा को पाने लगे, जिसमें कारण लौकिक सुन्दर वस्त्र और श्रेष्ठ आभरण थे ।। ३२ ।।

आभास—उपसंहरति **ईदृग्विधानीति** ।

आभासार्थ—'ईदृग्विधानी' श्लोक से उपसंहार करते हैं

श्लोक—**ईदृग्विधान्यसंख्यानि बलस्य बलशालिनः ।**
अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य सन्ति हि ।।३३।।

श्लोकार्थ – महान् बलवाले, अनन्त,अप्रमेय, मनुष्यरूप बलदेवजी के ऐसे अगणित चरित्र हैं ।।३३।।

सुबोधिनी—यथा तीर्थयात्रात्मकमिदमेकं चरित्रं एवंविधान्यसंख्यातानि तस्य चरित्राणि । यतोयं **बलशाली** बलकार्यं बह्वेव करिष्यतीति । न च तच्चरित्रं पराजयात्मकम् । यतोयम**नन्तः** । तर्हि कथं नोच्यत इतिचेत् तत्राह **अप्रमेयस्येति** । नन्वयमवतीर्ण इति देहग्रहणानन्तरं चरित्रं विचार्यते न तु परमार्थभूतस्य, अन्यथा सर्व एव तथा भवेदित्याशङ्क्याह **मायामर्त्यस्येति** । स्तुतिपरत्वं वारयति **सन्ती**ति । युक्तश्चायमर्थः । अवतारो हि किंचित्कार्यार्थः केषांचिद्धर्म साधयेत् । अन्येषामन्यदन्येषामन्य इति, अन्यथा अवतारवैयर्थ्यापत्तेः । तस्माद्ग्रन्थविस्तरभयात्परं न लिख्यन्ते किंतु **सन्ति** ।।३३।।

व्याख्यार्थ—जैसे यह तीर्थ यात्रा का एक चरित्र है, ऐसे अगणित उनके चरित्र हैं, क्योंकि वे बलवान् हैं अतः बल के कार्य बहुत ही करेंगे । वह चरित्र पराजय रूप भी नहीं हैं, कारण कि, यह अनन्त है, तो उनके चरित्र क्यों नहीं कहते हो ? यदि यों कहो तो, उसका उत्तर है 'अप्रमेयस्य' जिसके चरित्रों को कोई जान ही नहीं सकता है, देह ग्रहण कर अवतार ले, जो चरित्र किए हैं वह चरित्र विचारे जाते हैं, न कि अलौकिक चरित्र, अन्यथा, सब ही वैसे हो जावें, इस शङ्का का निवारण करते है कि 'मायामर्त्यस्य' माया से मनुष्य दीखते हैं, अतः इनके चरित्र की गणना नहीं हो सकती है । यह स्तुति परायण वाक्य नहीं हैं क्योंकि 'सन्ति' अनन्त चरित्र हैं,यह अर्थ ही उचित है । अवतार तो किसी कार्य के लिए किसी के धर्म को सिद्ध करता है, किसी का कैसा और किसी का कैसा, नहीं तो, अवतार धारण ही व्यर्थ हो जावे, इससे विशेष लिख नहीं सकते, कारण कि ग्रन्थ का बहुत विस्तार होगा, यह भय होता है, किन्तु अनेक चरित्र हैं ।। ३३ ।।

आभास—बुद्धिरेकत्र स्थिरीभूता दृढा भवतीति । बलभद्रचरित्रस्य श्रवणादेः भगवद्भजनोपयोगित्वमाह **शृण्वन् गृणन्निति** ।

आभासार्थ—बलरामजी के चरित्रों का श्रवण भगवद्भजन के लिए उपयोगी है, क्योंकि उससे बुद्धि एक ही स्थान पर स्थिर रहती है और दृढ़ हो जाती है,यों 'शृण्वन्गृणंश्च' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**शृण्वन्गृणंश्च रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः ।**
सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत् ।।३४।।

श्लोकार्थ—अद्भुत चरित्र बलरामजी के चरित्रों को जो पुरुष सायं प्रातः श्रवण करे, वह भगवान् को प्रिय होता है ।।३४।।

सुबोधिनी—श्रोतरि सति **गृणन्नि**त्यादि व्याख्येयम् । **गृणन्नि**त्युच्चरन् स्वयमेव । ननु भगवद्भक्तः किमिति श्रोष्यति भावान्तरापन्नस्य तत्राह **अद्भुतकर्मण** इति । अद्भुतत्वाच्छ्रवणम् दुर्योधनादय एवं मन्यन्ते यथा पाण्डवानां पक्षे कृष्णः एवमस्मत्पक्षे बलभद्र इति ततो वयं तुल्या जेष्याम इति । इयं बुद्धिर्भूभारहरणार्थं बलभद्रेणैव संपाद्यते । यथार्थं वदन् तथैव साहाय्यं च कुर्वन् तथापि मारयत्येव । कृष्णरामयोरेकभावादिति अद्भुतकर्मत्वम् । स्वतन्त्रतया श्रवणादौ तत्रैव भक्तिर्भविष्यतीति कर्माङ्गत्वार्थमाह **सायं प्रातरि**ति । **अनन्तस्य** शेषस्य । **विष्णोः** पुरुषोत्तमस्य । **स** श्रवणादिकर्ता भगवतः प्रियो **भवेत्।** अयमस्मत्सेवकसेवक इति प्रपौत्रवत्प्रियः । एवमुपसंहृत्य फलकथनात् तच्चरित्रं समापितमिति सूचितम् । कीर्तिस्तस्य सर्वप्रकारेण स्थिरीकृता निरूपिता ।।३४।।

व्याख्यार्थ—'शृण्वन् तथा गृणन्' दो पद हैं जिनका आशय है कि केवल चरित्र सुनना ही नहीं, किन्तु स्वयं (खुद) उनका जोर से उच्चारण भी करते रहना, जैसे दूसरे भी सुने और अपने चित्त में भी स्थिर हो जावे, जो भगवान् का भक्त है, वह भावान्तर को प्राप्त स्वरूप के चरित्र क्यों सुनेगा ? इसका उत्तर देते हैं कि 'अद्भुतकर्मणः' आपके चरित्र अद्भुत है, इसलिए श्रवण करने चाहिए, दुर्योधनादि यों समझते हैं, कि जैसे पाण्डवों के पक्ष में श्रीकृष्ण हैं, वैसे बलरामजी हमारे पक्ष में हैं, जिससे दोनों समान हैं अतः हम जीतेंगे, ऐसी इनकी बुद्धि बलरामजी ने ही भूभार हरण करने के लिए की थी, यथार्थ में कहते थे, वैसे ही सहाय भी करते थे। तो भी मारते ही हैं। अद्भुत कर्मा बलरामजी को क्यों कहा ? अद्भुतकर्मा तो श्रीकृष्ण ही है, जिसका समाधान आचार्य श्री करते हैं, कि श्रीकृष्ण और राम एक ही हैं, स्वतन्त्रता से श्रवण करने पर, उसमें ही भक्ति होगी। श्रवण कर्माङ्ग है, उसके करने का समय बताते है, सायंकाल और प्रातःकाल में श्रवण करना चाहिये, बलरामजी अनन्त हैं, अर्थात् शेष रूप हैं, और विष्णु अर्थात् पुरुषोत्तम के भी रूप हैं। अतः इनके चरित्र, जो श्रवण करता है, वह भगवान् को प्रिय होता है। कैसे प्यारा होता है ? वह दृष्टान्त देकर समझाते हैं, कि जैसे परपोता प्रिय होता है, यह शेष जी के चरित्रों के श्रवण कर्ता को भी, भगवान् समझते हैं, कि हमारे सेवक का सेवक है, अतः प्रपौत्र के समान है इससे प्रिय है, इस प्रकार फल कहकर यह चरित्र समाप्त हुआ बताया है, सर्व प्रकार से उनकी कीर्ति की स्थापना का निरूपण किया ॥ ३४ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे त्रिंशाध्यायविवरणम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७६वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३०वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल अवान्तर प्रकरण का द्वितीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का अवगाहन निम्न पद से करें

स्याम बलराम कौं सदा ध्याऊँ ।
यहै मम ज्ञान यह ध्यान सुमिरन यहै, यहै असनान फल यहै पाऊँ ।
स्याम दँतबक्र अरु साल्व कौं जीति करि, करत आनंद निजपुरी आए ॥
राम गंगादि, जमुनादि अस्नान करि, नैमिसारण्य पुनि जाइ न्हाए ॥
सूत तहँ कथा भागवत की कहत है, रिषि अठासी सहस हुते स्रोता ।
राम कों देखि सनमान सबही कियौ, सूत नहिँ उठे निज जानि वक्ता ॥
राम तिहिँ हत्यौ तब सब रिषिन मिलि कहयौ, बिप्र हत्या तुम्हैं लगी भाई ।
सूत सुत थापि सब तीर्थ अस्नान करि, पाप जो भयौ सो सब नसाई ॥
पुनि कहयौ रिषिन दानव महा प्रबल हयाँ, हमैं दुख देत सो सदा आई ।
ताहि जो हतौ तौ कल्यान तुव, हम करैं जज्ञ सुख सौं सदाई ॥
राम दिन कितक ता ठौर औरों रहे, आई बल्वल तहाँ दई दिखाई ।
रुधिर औ माँस की लग्यौ बरषा करन, रिषि सकल यह देखि गए डराई ॥
राम हल सौं पकरि मुसल सौं हत्यौ तेहि, प्रान तजि तेहि सकल सुधि बिसारी ।
सुरनि आकास तैं पुहुप बरषा करी, रिषिन आसीस जय धुनि उचारी ॥
बहुरि बलराम परनाम करि रिषिन कौं, पृथी परदच्छिना कौं सिधाए ।
प्रभु रची ज्यौं हि ज्यौं होइ सो त्यौं ही त्यौं, सूर जन हरि चरित कहि सुनाए ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ८० वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ७७वां अध्याय
उत्तरार्ध ३१वां अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—३"

श्रीकृष्ण द्वारा सुदामाजी का स्वागत

कारिका—**संपत्तिर्भगवन्मित्रे द्वाभ्यामत्र निरूप्यते ।**
लोकावगतहेतूनामभावात्केवले हरेः ॥१॥

कारिकार्थ—जिस मित्र को भगवान् ने ऐश्वर्यादिक नहीं दिये हैं, वैसे केवल मित्र के पास सम्पत्ति का अभाव है, जिसका प्रमाण यह है कि उसके पास राज्यादिक वैभव नहीं है ॥१॥

कारिका—**एकत्रिंशे तथाध्याये कृष्णमित्रस्य सर्वथा ।**
संपत्त्यभावो वाक्याच्च स्थाप्यते सविशेषतः ॥२॥

कारिकार्थ—इकत्तीसवें अध्याय में कृष्ण के मित्र के पास सर्वथा सम्पत्ति का अभाव कहा है, फिर बत्तीसवें अध्याय में भगवान् की विशेष कृपा से असीम सम्पत्ति की प्राप्ति की कथा कही है ॥२॥

कारिका—**अङ्गत्वेन बलस्यात्र श्रुत्वा लीलां विचक्षणः ।**
निर्विण्णो भगवल्लीलां विशेषेणात्र पृच्छति ॥३॥

कारिकार्थ—राजा परीक्षित बलदेवजी के चरित्र सुनकर उदास हुआ, अतः विशेष रूप से भगवान् की लीलाओं का प्रश्न करता है ॥३॥

— इति कारिकार्थ समाप्त —

आभास—पूर्वाध्याये बलभद्रलीलां श्रुत्वा भगवल्लीलायां जातस्पृहः पृच्छति **भगवन् यानि चान्यानी**ति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय में बलभद्र की लीलाएँ सुनकर भगवान् की लीलाओं के सुनने की इच्छा होने से, राजा परीक्षित 'भगवन् यानि' श्लोक से ४ श्लोक में भगवान् की लीलाओं के प्रश्न करता है।

श्लोक—राजोवाच—**भगवन् यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः ।**
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामहे प्रभो ॥१॥

श्लोकार्थ—परीक्षित ने कहा कि हे भगवन् ! अनन्त पराक्रमी महात्मा मुकुन्द भगवान् के जो अन्य चरित्र हैं, वे भी हे प्रभो ! मैं सुनना चाहता हूँ ॥१॥

सुबोधिनी—**भगवन्निति** संबोधनं भगवच्चरित्रे श्रद्धां ज्ञानं च सूचयति । **यानि** प्रसिद्धानि चरित्राणि **च**कारादप्रसिद्धानि च । **अन्यानि** ग्रन्थान्तरेषूक्तानि तत्संबन्धिचकारादनुक्तानि च । न चैवं चरित्रबाहुल्यं नास्तीति च शङ्कनीयम् । यतो **मुकुन्दस्य** चरित्रबाहुल्याभावे सर्वेषां मुक्तिर्न सिद्धा भवेत् । देशकालव्यवहितानां सर्वेषामेव चरित्रश्रवणादिनैव मोक्षसिद्धेः । मम त्वेतावती श्रद्धा तानि सर्वाण्येव चरित्राणि श्रोतव्यानीति, न केवलं मोक्षार्थित्वेनैव किंतु महत्त्वार्थिन आत्मार्थिनश्च तत्रापि वीर्याणि पराक्रमरूपाणि । तत्रापि बाहुल्यमाह **अनन्तवीर्यस्ये**ति । **श्रोतुमिच्छामह** इति श्रवणेच्छा सर्वेषां निरूपिता । **प्रभो** इति एतावता श्रवणेच्छापूर्तिर्नस्त्वयैव कर्तुं शक्या नान्येनेति ॥१॥

व्याख्यार्थ—परीक्षित ने, श्री शुकदेवजी को 'भगवन्' संबोधन से यह बताया है, कि मेरी भगवान् के चरित्र में श्रद्धा है और उसका ज्ञान भी है जितने प्रसिद्ध हैं वे और 'च' पद से कहता है कि जो प्रसिद्ध नहीं हैं वे तथा जो दूसरे ग्रन्थों में कहे हैं अथवा वहां भी नहीं कहे हों वे भी, मैं आप से सुनना चाहता हूँ, यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, कि भगवान् के अनेक चरित्र नहीं है, क्योंकि यदि भगवान् के चरित्र बहुत प्रकार के न होंवे तो सर्व प्रकार के जीवों की मुक्ति सिद्ध न होती। देशकाल की रुकावट के सिवाय सर्व की ही चरित्र श्रवणादि से ही मोक्ष की सिद्धि हुई है। मेरी तो,

इस प्रकार की श्रद्धा है, अतः सब ही चरित्र सुनने चाहिये, केवल मोक्षार्थिपन से ही नहीं, किन्तु महत्त्वार्थी और आत्मार्थी कार्य सिद्धि के लिए, जो पराक्रम रूप चरित्र किए हैं, वे भी सुनना चाहता हूँ। उसमें बहुलता है, कारण कि, आप अनन्तवीर्य (पराक्रम) वाले हैं, इत्यादि कारणों से केवल मैं नहीं किन्तु सकलजन सुनना चाहते हैं, इस प्रकार श्रवणेच्छा की पूर्ति आप से ही होगी न कि दूसरे किसी से, क्योंकि आप 'प्रभु' सर्वसमर्थ, षडगुणैश्वर्य सम्पन्न हैं ॥ १ ॥

आभास— ननु श्रुतान्येव बहुचरित्राणि पुनः कथमाकाङ्क्षेति चेत्तत्राह **को नु श्रुत्वेति** ।

आभासार्थ—आपने बहुत चरित्र सुने हैं फिर क्यों इच्छा हुई है ? इसका उत्तर 'को नु श्रुत्वा' श्लोक में देता है—

श्लोक—**को नु श्रुत्वाऽसकृद्ब्रह्मन्नुत्तमश्लोकसत्कथाः ।**
विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ॥२॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन्! कामदेव के बाणों से खेदित कौन सा मनुष्य है, जो उत्तमपुरुष जिनके गुणगान करते हैं, वैसे भगवान् की सुन्दर कथाएँ बार-बार सुनकर भी विशेष जानने की इच्छा न करे, गुणानुरागी कोई भी पुरुष भगवान् की कथा से तृप्त नहीं होता है अर्थात् सदैव उस रस के पान की इच्छा करता रहता है ॥२॥

सुबोधिनी—**असकृद्वारंवारमपि श्रुत्वा** श्रवणाद्**विरमेत** । **ब्रह्मन्नि**त्यस्मिन्नर्थे सर्वज्ञत्वात्संमतिरुक्ता । तत्राप्युत्तमश्लोकस्य **सत्कथाः** । उत्तमैः श्लोक्यत इत्यविगानं कथाश्च सद्रूपाः । स्वतोपि पुरुषार्थपर्यवसायिन्यः । एवं सर्वप्रकारेणोत्तमाभ्यः **को वा विरमेत** । ननु सत्कथाः बह्व्य एव सन्ति बहूनां भगवतश्च ततश्च श्रुतानामेवानुवृत्तिः कर्तव्या किमपूर्वश्रवणेनेत्याशङ्क्यायामाह **विशेषज्ञ** इति । यदेकं चरित्रं श्रुतं तदा यावान् रसः तदपेक्षया द्वितीयचरित्रश्रवणे शतगुणः, ततस्तृतीयेपि ततः शतगुणाधिक्यम् । एवमुत्तरोत्तरं श्रोत्कृणां रसाधिक्यमनुभवसिद्धम् । अतो **विशेषज्ञः को वा विरमेत** । पूर्वचरित्रेणान्तःकरणमालिन्ये निवृत्ते उत्तरोत्तरमधिकचरित्रस्वरूपज्ञानात् विशेषज्ञता युक्तैव । तत्र कदाचित्संसारे व्यापृतः अन्यधर्मैर्बन्ध्या **गृहीतः** विरमेतापि यस्तु पुनर्विरक्तः स कथं न गृह्णीयात् । वैराग्ये उपपत्तिमाह **विषण्णः काममार्गणैरि**ति । कामा नानाविधाः मार्गणत्वादन्तःस्थिताः भित्त्वा बहिर्निर्गच्छन्ति । बहिःस्थाश्चान्तः प्रविशन्तीति तत उपायो जातः यतोयं काममयः पुरुषः अतः सर्वतो भिन्नः सर्वानन्दहेतोश्चरित्रात् कथं विरमेतेत्यर्थः ॥२॥

व्याख्यार्थ—बार-बार सुनकर भी, कौन ऐसा हो, जो सुनने से विराम पावे ? हे ब्रह्मन् ! संबोधन से सिद्ध किया है कि श्रीशुकदेवजी सर्वज्ञ होने से, उनकी भी इसमें सम्मति है, उसमें भी जिसकी कथाओं का गान उत्तम पुरुष करते रहते हैं, ऐसी कथाएँ सद्रूप हैं, और स्वतः भी पुरुषार्थ

रूप हैं, अथवा श्रोताओं को चारों पुरुषार्थों को देने वाली है, सर्व प्रकार से, उत्तम वैसी सत्कथाओं से कौन है जो विराम पावे ।

सत्कथाएँ तो बहुत ही हैं, उन कथाओं तथा भगवान् के सुने हुए गुणों का बार बार स्मरण करना चाहिए फिर नवीन चरित्र सुनने की क्या आवश्यकता है ? वा उससे क्या लाभ ? जिसके उत्तर में कहा है कि 'विशेषज्ञः' जो मनुष्य विशेष आनन्द रस को जानने वाला है, वह सदैव विशेष की इच्छा करता है, अतः एक चरित्र सुनने से जिस रस की प्राप्ति हुई, फिर उस रस से विशेष रस की इच्छा होने से, दूसरा चरित्र सुनना चाहता है । दूसरे चरित्र श्रवण करने पर, पहले से दूसरे चरित्र सुनने में शतगुण आनन्द आता है । अनन्तर तीसरे चरित्र श्रवण से. उससे भी शत (सौ) गुणा अधिक हैं, इसी तरह उत्तरोत्तर श्रोताओं को अधिक रस की प्राप्ति होती है । यह अनुभव से सिद्ध है, इसलिये कोई भी विशेषज्ञ उससे कैसे विराम पावेगा ?

पूर्व चरित्र श्रवण से अन्तःकरण की मलीनता नष्ट होगी वैसे ही उत्तरोत्तर अधिक चरित्र के स्वरूप के ज्ञान हो जाने से, विशेषज्ञता होना उचित ही है, वहाँ कदाचित् संसार में व्यावृत अन्य धर्मों से बन्ध में जो गृहीत हैं, वे विराम पावे भी, और जो विरक्त हैं वह गुणों को कैसे श्रवण नहीं करेगा ? वैराग्य होने में, उपपत्ति बताते हैं, अनेक प्रकार के कर्म हैं, वे अन्तःकरण में स्थित हैं, उसे तोड़कर बाहर निकल आते हैं । बाहर स्थित भीतर चले जाते हैं, इसी तरह उपाय हुआ, क्योंकि यह पुरुष काममय है, अतः सबसे पृथक् सर्वानन्द के हेतु चरित्र से यह कैसे विराम पाएगा ? ॥ २ ॥

आभास—एवं जीवस्य स्वतः भगवच्चरित्रादविरतिमुक्त्वा विरक्तौ न केवलमात्मन एव कामैर्नाशः किंतु सर्वेन्द्रियाणामपि वैफल्यमिति वदन् इन्द्रियवत्त्वं भगवच्चरित्रादेवेत्याह **सा वागिति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—जीव स्वयं ही भगवान् के चरित्र श्रवण से विराम नहीं पाता है, यों कहकर, अब कहते हैं, कि यदि विराम पावे तो न केवल आत्मा का ही कामनाओं से नाश करता है, किन्तु सकल इन्द्रियों को भी विफल बनाता है । अतः इन्द्रियों की सफलता तो भगवान् के चरित्र श्रवणादि से ही होती है, यों 'सा वाग्.' श्लोक से सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।**
स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥३॥

श्लोकार्थ—जो वाणी भगवान् के गुणों का गान करती है, वह वाणी है । जो हाथ उनकी सेवा करते हैं, वे हाथ हैं । जो मन अचल और चल पदार्थों में वास करने वाले भगवान् के चरित्रों को स्मरण करता है, वह मन है । जो कान उनकी पवित्र कथाएँ सुनते हैं, वे कान हैं ॥३॥

सुबोधिनी—**वाग्** देवतारूपा । अनेनान्येषां दैत्यरूपा वागिति तेषामिन्द्रियाणां वागादिपदप्रयोगो भाक्तः । अभासा वा वागादयः, अन्यथा भगवतः सकाशात् उत्पन्ना वागादयः कथमन्यपरा भवेयुः । अथवा । 'द्वया ह प्राजापत्या' इत्यत्र देवपक्ष एव 'ते ह वाचमूचुः' इत्यादिना वाक्शब्दव्यवहार उक्तः । असुराणां तु सर्वेन्द्रियाणामासुरत्वमेव न वागादित्वम् । अथवा । इन्द्रियाणां द्वेधा उत्पत्तिः श्रुतौ निरूपिता । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति । 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' इत्यादि च । पुराणादिष्वहंकारादपि तेषामुत्पत्तिः । तत्र ये भगवद्योग्याः तेषां भगवदीयैव सामग्री तत्रैव वागादिव्यवहारः । ब्रह्मनिर्मितेऽहंकारनिर्मिते वा इन्द्रियवर्गे नायं व्यवहारः राजसतामसव्यवहारात्, अतः सात्त्विका निर्गुणा वा भगवदीया भवन्तीति भगवत्कृतेन्द्रियसंबन्ध एव तेषां तत्र परीक्षार्थमिदमारभ्यते **सा वागिति** । अभिप्रेता वाक् सैव **यया तस्य गुणान् गृणीते** गृणनं नोच्चारणमात्रं किंतु नितरां गॄ निगरणे इत्यनुशासनात् । भगवतः कथामात्रं कदाचिदन्योपि वदेत् । उत्कर्षाधायकानां तु तेन प्रकारेण नितरां भक्तिपूर्वकमुच्चारणं भगवत्कृतवाच एवेति न क्वाप्यव्याप्त्यतिव्याप्ती । इदमेव चाभिज्ञापकम् । एवमग्रेपि ज्ञातव्यम् । **करौ च तत्कर्मकरौ** । कर्म लौकिकं परिचर्यात्मकं भगवत्त्वेन ज्ञात्वा,यज्ञकृतौ तदपि भवति । **तच्छब्देन** पुरुषोत्तमो वा । यज्ञस्तु पुरुषस्य कर्मेति न तत्रातिव्याप्तिः । **च**कारात्बहिर्मुखानामपि सेवकसेवकानां करौ संगृहीतौ। गुणानुवर्णनं तु न तेषामान्तरं शक्यं बाह्यं तु प्रसङ्गाद्भवेदपि । **मनश्च** तत्र **च**कारः पूर्वकर्मसंग्रहार्थः । न तु सेवकानां । **स्थिरजङ्गमेषु वसन्तं** भगवन्तं **स्मरेदिति** । अनेन द्वितीयस्कन्धे सूक्ष्मधारणायां यदुक्तं 'धारणया स्मरन्ति' इति तत्र विशेषो निरूप्यते स्थिरजङ्गमेषु वसन्तमिति । तत्र तु 'स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे' इति । अन्यदपि रूपद्वयं सामान्यवचनात्संगृह्यते । आधिदैविकमन्तर्यामिरूपं च तत्राप्युत्तमत्वादिभेदः कल्पनीयः॥ उत्तमास्तु पूर्वोक्ताः सर्वत्र भगवद्दर्शनं तु भगवत एव तथानुगृहीतस्य वा भवति । तादृशस्य स्मृतिर्निवर्तत एव सर्वत्रानुभव एव । कर्णयोस्तु विशेषमाह **शृणोतीति** । **तत्पुण्यस्य** जीवहितकरणरूपस्य **कथाः** पुण्यजनिकास्तु प्रकरणविरोधान्न ग्राह्याः । **कर्ण** इत्येकवचनं वामाभिप्रायम् । 'उत्तरो देवहूः स्मृत' इति वाक्यम् । अथवा । यः कर्णौ भक्तिजनिकां कथां शृणोति **स** सर्वसंमत इति तं परित्यज्य योपि पुण्यकथाः शृणोति **स कर्णः** स एव कर्णः पूर्वोक्तो वा ॥३॥

व्याख्यार्थ—वह वाणी देवता रूप है, इससे यह समझाया है, कि दूसरों की दैत्य रूप वाणी है, यों इनकी इन्द्रियों के वागादिरूप का विभाग किया है, अथवा उनकी (अन्यों की) वागादि इन्द्रियां आभास रूप हैं । यदि दैत्यरूप वा आभासरूप न होती तो, भगवान् से उत्पन्न, वे इन्द्रियाँ भगवान् के परायण न होकर कैसे अन्य परायण होवे अथवा 'द्वया ह प्राजापत्या' इस श्रुति में इन्द्रियां देवता रूप हैं, यह देव पक्ष कहा है और 'ते ह वाचमूचुः' इन वाक्यों से वाणी का शब्द व्यवहार करना कहा है, तात्पर्य यह है, कि जो वाक् देवता रूप है, उसका शब्द व्यवहार भगवत्परायण है और असुरों की तो सर्व इन्द्रियाँ आसुर हैं,इसलिए वे इन्द्रियाँ वागादि कहलाने के योग्य ही नहीं हैं ।

श्रुति में इन्द्रियों की दो प्रकार से उत्पत्ति कही है, एक साक्षात् भगवान् से और दूसरी अन्यों से, जैसा कि 'एतस्माज्जायते प्राणो मन इन्द्रियाणि च' इस परमात्मा से प्राण, मन और इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं तथा 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' स्वयम्भू भगवान् से उत्पत्ति कही है, इसलिए

इन्द्रियाँ भगवान् को पहुँच नहीं सकती हैं। पुराण आदि शास्त्रों में अहङ्कार से भी इन्द्रियों की उत्पत्ति कही है, वहां जो भगवान् की सेवा के योग्य हैं उनके लिए सामग्री भगवदीय ही है । उस विषय में ही उस वाणी का आदि सदुपयोग होता है, ब्रह्म वा अहङ्कार से निर्मित इन्द्रिय वर्ग ऐसा व्यवहार नहीं कर सकती, कारण कि उनका व्यवहार राजस और तामस है, अतः जो सात्विक वा निर्गुण भगवदीय होते हैं, उनका ही भगवान् से बनी हुई इन्द्रियों से सम्बन्ध है, उसमें परीक्षा के लिए यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है। वह ही वाणी अभिप्रेत है, जो वाणी उनके गुणों का जोर से प्रेमपूर्वक उच्चारण करते हुए उनको निगलती रहती है, भगवान् की केवल कथा कहानी की तरह दूसरा भी कह दे, जो उत्कर्ष वाले हैं वे उस प्रकार से सर्वदा भक्ति पूर्वक उच्चारण करते हैं, कारण कि, उनकी वह वाणी है, जो भगवान् ने बनाई है, इसलिए उसमें वहां भी अव्याप्ति वा अति-व्याप्ति नहीं है। यह ही समझना है। आगे भी यों जानना चाहिए। हस्त (हाथ) वे हैं जो भगवान् की ही सेवा करते हैं। लौकिक कर्म को भी भगवत्पन से सेवा रूप समझकर करना चाहिए वह भी यज्ञ रूप होता है, अथवा तत् शब्द से पुरुषोत्तम समझना चाहिए, यज्ञ तो पुरुषोत्तम का कर्म है, इसलिए उसमें अतिव्याप्ति नहीं है, 'च' पद से बहिर्मुख जो सेवकों के सेवक हैं उनके भी हस्त ग्रहण किए गए हैं, सेवकों के गुणों का वर्णन तो आन्तर होने से करने में समर्थ नहीं है। प्रसङ्ग आने पर बाहर का तो होता ही है, 'मनश्च' यहां 'च' पद पूर्व कहे हुए कर्म के सङ्ग्रह के लिए है न कि सेवकों के लिए।

द्वितीय स्कन्ध में अपनी देह के अन्दर हृदयाकाश में स्थित परमात्मा को धारणा से स्मरण करना कहा है। यहां उससे विशेष प्रकार से कहते हैं, कि अचल और चल सकल पदार्थों में व्याप्त भगवान् का स्मरण करे। सामान्य वचन से भी दूसरे भी दो रूप ग्रहण किए जा सकते है। १–आधि-दैविक २–अन्तर्यामिरूप उनमें भी उत्तमत्व आदि भेद की कल्पना करनी चाहिए,उत्तम वे हैं जो पहले कहे हैं, सर्वत्र भगवत् दर्शन तो भगवान् द्वारा अनुगृहित अथवा जिसका ज्ञान मार्ग में ग्रहण हुआ हो, उनको होता है, ऐसों की स्मृति नष्ट हो जाती है केवल अनुभव ही होता रहता है।

जीवों का हित करने वाली, जो भगवान् की पुण्यप्रद लीलाएँ हैं, वे प्रकरण विरुद्ध होने से, ग्रहण नहीं करनी चाहिए क्योंकि यहां प्रकरण भगवदीय इन्द्रिय वर्ग का है, उन भगवदीय इन्द्रियों को पुण्यजनक कथाओं के सुनने की आवश्यकता नहीं हैं, कारण कि, ये इन्द्रियाँ कर्ममार्गीय नहीं हैं । 'कर्ण' शब्द एक वचन कहने का तात्पर्य यह है, कि वाम+ कर्ण देवहू कहलाता है इसलिए उत्तर कर्ण ही भगवदीय होने से, ऐसे भगवच्चरित्र सुनना चाहता है, जो 'कर्ण' भक्ति को उत्पन्न करने वाली कथा को सुनता है वह 'कर्ण' सर्व संमत है, उसको छोड़कर जो पुण्यप्रद कथाओं को सुनता है वह उत्तर कर्ण है वा पूर्वोक्त ही कर्ण है इससे प्रथम पक्ष की मुख्यता बताने के लिए उसका अनुवाद किया है ॥ ३ ॥

आभास—इन्द्रियाणां निरूप्य अङ्गानि निरूपयन् उत्तमाङ्गं निरूपयति ।

आभासार्थ—इन्द्रियों का निरूपण कर अङ्गों का निरूपण करते हुए उत्तमाङ्ग का 'शिरस्तु' श्लोक में निरूपण करते हैं—

+ पितृहुदक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहूः स्मृतः

श्लोक—**शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत्तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।**
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि वहन्ति नित्यम् ॥४॥

श्लोकार्थ—जो सिर भगवान् की स्थावर जङ्गम रूप दोनों मूर्तियों को प्रणाम करता है, वह सिर है, जो नेत्र सर्व जगत् को भगवद्रूप देखते हैं, वे नेत्र हैं और जो अङ्ग भगवान् विष्णु के चरणोदक का तथा भगवद्भक्तों के चरण जल का नित्य सेवन करते हैं, वे अङ्ग हैं ॥४॥

सुबोधिनी—वहन्ति,शिरस्तु तस्योभयलिङ्ग-मानमेदिति । उभयं स्थावरजङ्गमात्मकं **लिङ्गं** यस्येति, अन्यत्तु भारात्मकत्वेन पूर्वमेव निरूपितम्। तुशब्दस्तद्व्यावर्तयति। एतद्येन संभवति तदप्यैन्द्रियकार्यं तथापि फलदशायामुपयुज्यत इति तदाह **तदेव यत्पश्यतीति**। सर्वमेव जगत् तल्लिङ्गत्वेनैव यदा पश्यति तदैव चक्षुर्भवति। अत्रायं साधनक्रमोपि निरूपितः मार्गान्तरानुसारेणैव गुणोत्कीर्तनपर्यन्तमधिकारे सिद्धे पश्चात्कीर्तनं भगवदीयानां प्रथमं साधनम्, ततः सेवारुच्या सेवा, ततो ज्ञानोदये सर्वत्र भगवदनुसन्धानम्, तादृशस्य बहिर्व्यापारे तत्साधकपुण्यकथाश्रवणम्, तस्य पुण्यैः नारदादिभिः वा कथाश्रवणम्, ततः सर्वत्र भगवत्साक्षात्कारः, ततो नमनमिति। एवं क्रमसिद्धचर्थं सर्वापेक्षया पूर्वमेव कर्तव्यं आवश्यकफलसाधकमिति भगवच्चरणोदकस्य पश्चादपि साधकत्वमिति सर्वान्ते निरूपयति **अङ्गानि विष्णोरिति**। तान्येवाङ्गानि **यानि विष्णोः पादोदकं गङ्गां वहन्ति। अथ** भिन्नप्रक्रमेण **विष्णोः** शालग्रामादौ। **तज्जनानां च नित्यं वहन्ति** अङ्गात्प्रथममागमनं भिन्नप्रक्रमः। नित्यवहनं त्रिषवणं अहरहः तदेकपानादिना वा। एवं भगवदीयत्वेनैव सर्वपुरुषार्थ इति कथं कथातो विरतिरिति ॥४॥

व्याख्यार्थ—स्थावर और जङ्गमात्मक जिसकी मूर्त्तियाँ हैं, उस विष्णु के इन दोनों स्वरूपों को जो शिर प्रणाम करता है, वह शिर है। जो यों नहीं करता है, वह भार रूप है, यों पहले ही निरूपण किया है, 'तु' शब्द उसको पृथक् करता हैं। यह जिससे हो सके, वह भी इन्द्रियों का कार्य है, तो भी, फल दशा में गिना जाता है। यों वह कहते हैं, कि, समग्र जगत् भगवान् का ही रूप देखे, तब वे नेत्र कहे जाते हैं। यहां यह साधन का क्रम भी निरूपण किया है, दूसरे मार्ग की रीति के अनुसार गुणों के कीर्तन पर्यन्त जब अधिकार सिद्ध हो जावे, पश्चात् भगवदीय, जो कीर्तन करते हैं, वह कीर्त्तन प्रथम साधन है। अनन्तर सेवा करने में रुचि उत्पन्न होती है,जिससे सेवा[1] होती है,बाद में ज्ञान का उदय जब होवे, तब सर्वत्र भगवान् का अनुसन्धान होता है, ऐसे अधिकारी के बाहर के व्यापार में,उस (अनुसन्धान)को सिद्ध करने वाली पुण्य कथाओं का श्रवण बन सकता है उसके पुण्यों से नारद आदि द्वारा कथा का श्रवण सिद्ध होता है,उससे जब सर्वत्र भगवान् का साक्षात्कार सिद्ध हो जाता है, तब नमन पूर्ण रीति से होता है। इस प्रकार क्रम सिद्धि के लिए पहले क्या करना चाहिए,

---

१— स्मरण और श्रवण सेवा के ही अन्तःपाती हैं अर्थात् जिसकी सेवा में रुचि हो, सेवा करता है, वह स्मरण श्रवण भी करता है।

वह बताते हैं, जिससे करने से आवश्यक फल की सिद्धि हो जाती है, भगवच्चरणारविन्द का जल पीछे भी सिद्धि करने वाला है। इसलिए अन्त में कहा है, वे ही अङ्ग हैं जो विष्णु के पादोदक गङ्गा को धारण करते हैं, 'अथ' पद देकर पृथक् (जुदा) क्रम दिखाते हैं, कि 'विष्णोः' अर्थात् शालग्राम आदि भगवत्स्वरूपों का पादोदक धारण करते हैं, और उसके जन अर्थात् भगवद्भक्त उनके पादोदक को नित्य धारण करते हैं, वे ही अङ्ग हैं। नित्य धारण का तात्पर्य है, कि नित्य तीन आचमन द्वारा उस पादोदक का पान करना, इसी तरह भगवदीयपन से ही सर्व पुरुषार्थ होते हैं, तो ऐसे भगवदीयों का कथा से वैराग्य कैसे होगा ? अर्थात् कदापि न होगा, सतत श्रवणादि करते ही रहेंगे ॥ ४ ॥

आभास—एवं भगवदुत्कर्षे वर्णिते श्रवणेन शुकोपि भक्त्यानन्दे निमग्नः कथारम्भं कृतवानिति सूतः शौनकादीन् प्रत्याह **विष्णुरातेन संपृष्ट** इति ।

आभासार्थ—इसी तरह भगवान् के उत्कर्ष वर्णन करते हुए, श्रवण हो जाने से शुकदेवजी भी भक्ति के आनन्द सागर में मग्न हो कथारम्भ करने लगे,यों सूतजी शौनकादि मुनियों को 'विष्णुरातेन' श्लोक से कहते है—

श्लोक—सूत उवाच—**विष्णुरातेन संपृष्टो भगवान् बादरायणिः ।**
वासुदेव भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥५॥

श्लोकार्थ—सूतजी कहने लगे कि, बादरायण व्यास के पुत्र भगवान् श्री शुकदेवजी से राजा परीक्षित ने यों पूछा, तब श्री शुकदेवजी वासुदेव में अर्थात् सत्वान्तःकरण में आविर्भूत स्वरूप में निमग्न होकर उत्तर देने लगे ॥५॥

सुबोधिनी—स हि भगवता एतदर्थमेव रक्षितः शुकोपि परमभगवच्छ्रद्धया **भगवान्** यतो **बादरायणिः** तपःपरायणाद्भगवत उत्पन्नः। अत एव **वासुदेवे** सत्त्वान्तःकरणाविर्भूते **निमग्नहृदयः** सन् ततो गूढं भगवच्चरित्रं गृहीत्वेवाब्रवीत्। इदं सख्यचरित्रं एकादशाध्यायैर्वक्तव्यम्। अतो निमग्नहृदयत्वादिकं साधनत्वेन निरूपितम् ॥५॥

व्याख्यार्थ—राजा परीक्षित की रक्षा भगवान् ने इसलिए ही की थी, श्री शुकदेवजी भी भगवान् में अत्यन्त श्रद्धा वाले हैं, जिससे भगवान् अर्थात् षड्गुणैश्वर्यवान् हैं, क्योंकि, तपः परायण भगवान् बादरायण से प्रकटे हैं, इस कारण से ही सत्वान्तःकरण में प्रकट वासुदेव स्वरूप में निमग्न हो, उनसे गूढ़ भगवान् के चरित्र ग्रहण कर ही कहने लगे, यह सख्यचरित्र ११ अध्यायों से वक्तव्य है, अतः भगवान् में हृदय का निमग्न होना साधन रूप से कहा है ॥ ५ ॥

आभास—कथामाह **कृष्णस्यासी**दिति ।

आभासार्थ—'कृष्णस्यासीत्' इस श्लोक से कथा कहते ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—**कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद्ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।**
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे, कि श्रीकृष्ण का कोई एक ब्राह्मण मित्र था, जो बड़ा ब्रह्मवेत्ता, इन्द्रियों के विषयों में से विरक्त, शान्तचित्त और जितेन्द्रिय था ॥६॥

सुबोधिनी—स पूर्वमपि **कृष्णस्यैवासीत्**। इदानीं तु **सखा** बाल्ये मित्रम्। **कश्चिदिति** विशेषतो देवांशत्वनिराकरणं किंतु केवलं सज्जीवः। तर्हि तेन सह कथं सख्यमासीत्तत्राह **ब्राह्मण**-इत्यादिसप्तविशेषणानि। येन षड्गुणैश्वर्ययुक्तो भगवांश्च तत्र प्रतिष्ठितो भवति। ततो भगवानेव भगवतः सखा भवतीत्युक्तं भवति। तत्र **ब्राह्मणः** श्रियो रूपं ब्रह्मानन्दत्वाल्लक्ष्म्याः। अयं च ब्रह्मणः संबन्धो ब्रह्मसंबन्धयोग्यतामेव संपादयति न जीवसंबन्धमिति प्रकरणाद्ब्राह्मण्यं निरुक्तम्। अनेन एतादृशभावे यददृष्टं भगवदिच्छा वा तेनैवास्य सख्यं जातमित्युक्तं भवति। **ब्रह्मविदां** मध्ये **श्रेष्ठः** ब्राह्मण्योत्कर्षः परमोयम्। ज्ञानस्यैतद्रूपम्। **विरक्त** इति **इन्द्रियाणामर्थेषु** सहजेषु रागाभावः वैराग्यस्य रूपम्। **प्रकर्षेण शान्तः आत्मा** यस्येति। त्रितयानन्तरं धर्मी निरूपितः। ततो **जितेन्द्रियः** ऐश्वर्ययुक्तः ॥६॥

व्याख्यार्थ—वह पहले भी कृष्ण का ही था, अब तो सखा, बालक अवस्था में मित्र हुआ है। 'कश्चित्' पद का आशय है कि उस में देवांश नहीं है, केवल सत्जीव है, तब तो उसके साथ कैसे मित्रता हुई, उससे मित्रता होने में ब्राह्मण आदि सातों विशेषण कारण रूप हैं, वे कहते हैं, जिससे षडगुणैश्वर्य युक्त भगवान् उसमें प्रतिष्ठित हुवे हैं, इस कारण से भगवान् ही भगवान् का सखा बन सकता है। (१) ब्राह्मण होने से श्रीरूप है; क्योंकि लक्ष्मी ब्रह्मानन्द है। यह ब्रह्म का सम्बन्ध ही ब्रह्म से सम्बन्ध की योग्यता प्रतिपादन करता है, न कि जीव सम्बन्ध को, यों प्रकरण से ब्राह्मण्य को कहा है, इससे ऐसे भाव में जो अदृष्ट वा भगवदिच्छा उससे ही मित्रता हुई। यों कहा जा सकता है, ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ है यह ब्राह्मण्य का परम उत्कर्ष है। ज्ञान का यह रूप है, सहज इन्द्रियार्थों में राग का अभाव है। जो वैराग्य का रूप है, जिसकी आत्मा अत्यन्त शान्त है, तीनों के बाद धर्मी का निरूपण किया, उसके बाद कहा, कि जितेन्द्रिय है, इससे कहा कि ऐश्वर्य धर्म युक्त है ॥ ६ ॥

श्लोक—**यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी ।**
तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ॥७॥

श्लोकार्थ—गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी भगवदिच्छा से जो मिलता था उससे अपना निर्वाह करता था, चीथड़े पहनने वाले उस ब्राह्मण की स्त्री भी वैसी ही थी और भूख के मारे दुबली हो गई थी ॥७॥

सुबोधिनी—**यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानः** वीर्यवान् इदं त्वतिसहनं परमवीर्यकार्यम्। **गृहाश्रमी** गृहस्थ, एतत्कीर्तिरूपम्। नन्वेतादृशस्य गृहस्थाश्रमो न युक्त इति शङ्कां वारयितुमाह **तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधेति**। पूर्वं परमहंसगृहस्थनिर्णये यद्येतादृशी भार्या लभ्येत तदा गार्हस्थ्यमुत्तममेतदभावे पारमहंस्यमिति। अन्यथा पुरुषोर्धबृगल इति पुरुषार्थसाधने खण्डः स्यात्। **कुचैलस्येति** तस्यां रागाभावो निरूपितः। रागिणां प्रथमतो वस्त्रालंकरणमिति। तस्यां रागाभावे अस्यापि हेतुमाह **क्षुत्क्षामेति**। सर्वथा क्षुधा क्षामा कृशा, तदपेक्षया तस्याः व्रतमधिकमिति पदार्थोत्पत्तावेक एव प्रकारः, तत्रापि शेषभोजनादाधिक्यम्। **चकारात्तद्धर्मयुक्तापि तथाविधा कुचैला**। अनेन तस्मिन्नपि तस्या रागाभावो निरूपितः ॥७॥

व्याख्यार्थ—जो कुछ भगवान् की इच्छा से प्राप्त होता था उससे वह ब्राह्मण अपना निर्वाह करता था, इससे सिद्ध होता है, कि वीर्यगुणवाला था। इस प्रकार इतना विशेष सहन करना तो, परमवीर्य का कार्य है, गृहाश्रमी अर्थात् गृहस्थ था, ऐसी अवस्था होते हुए सन्तोष में रहना यह कीर्त्तिरूप है। यदि यों ऐसी दशा है, तो गृहस्थी होना उचित नहीं है। इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं, कि चीथडे धारण करने वाले ब्राह्मण की **स्त्री** भी ऐसी चीथड़ों वाली और दुबली थी, पहले परमहंस के गृहस्थ के निर्णय में जो ऐसी स्त्री प्राप्त होवे, तब वह गृहस्थाश्रम उत्तम है, यदि वैसा न हो तो पारमहंस्य श्रेष्ठ है, नहीं तो पुरुष अर्धबृगल है। यों पुरुषार्थ साधन में खण्ड होता है। फटे कपड़े वाले की स्त्री में आसक्ति वा प्रेम का अभाव होता है। जो आसक्तिवान् होते हैं वे पहले ही वस्त्र और अलङ्कारों से स्वयं अलंकृत बनते हैं। इसका भी स्त्री में रागाभाव था, क्योंकि भूख से कृश हो गई थी, उससे भी इसका अधिक व्रत था, पदार्थ की उत्पत्ति में एक ही प्रकार था, तो भी बचे हुए भोजन से निर्वाह कर लेने से स्त्री का व्रतवती होना अधिक था 'च' पद से बताता है ऐसे व्रत से दुबली होने के साथ कुचैला (मलीन वस्त्र वाली) भी थी, इससे उसमें भी इसका (स्त्री का) रागाभाव था ॥ ७ ॥

आभास—तस्याः कामनायां प्रथमतो हेतुमाह **पतिव्रतेति**।

आभासार्थ—उस स्त्री को धन की कामना में हेतु 'पतिव्रता' श्लोक से कहते हैं

श्लोक—**पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता बदनेन सा।**
दरिद्रा सीदमाना सा वेपमानाभिगम्य च ॥८॥

श्लोकार्थ—पतिव्रता, दरिद्रा और दुःखी वह स्त्री काम्पती हुई पास आकर कुम्हलाते हुए मुख से पति को कहने लगी ॥८॥

सुबोधिनी—पतिरेव व्रतं यस्याः। यथा व्रती स्वव्रतोत्कर्षं वाञ्छति तथा सापि भर्तुः सर्वसमृद्धिं वाञ्छतीति। पतिव्रतात्वादेव नान्यतस्तत्संपादनमतः **पतिं प्राह म्लायता वदनेनेति** दैन्यख्यापनम्। ननु मनसि कामाभावे दैन्यं कपटरूपमिति पातिव्रत्यविरुद्धम्। विद्यमाने तु तथा विधत्वं नास्तीत्याशङ्कायामाह **सेति**। सा पतिव्रता व्रतार्थं तत्साधनमिति न दोष इति भावः।

स्वतः स्वोत्कर्षो नास्तीति ज्ञापयितुमाह दरिद्रा सीदमाना सेति। दारिद्र्यात् दुर्गतेः न कोप्यर्थः। तत्राप्यवसादं शरीरेण प्राप्नोति। ततः प्रथमत एव देहवियोगे व्रतभङ्गोपि भविष्यतीति भयात्तथाकरणम्। यतः सा पूर्ववत्। तर्ह्येतावत्कालं कथं नोक्तवती तत्राह वेपमानेति। भयादिति केचित्। शरीरं पतनदशापन्नमिति। अतः परं कालो विलम्बं न सहत इति आभिमुख्येनागत्य, चकारात्तन्मनःप्रीतिं कृत्वा स्तोत्रं वा वक्ष्यमाणमाह ॥८॥

व्याख्यार्थ—पति ही जिसका व्रत है, वैसी वह स्त्री थी, जैसे व्रत करने वाला अपने व्रत का उत्कर्ष चाहता है, वैसे ही यह भी, अपने पति से सर्व प्रकार की समृद्धि चाहती थी, इसलिए उसका उत्कर्ष चाहती थी पतिव्रता होने से अन्य प्रकार अर्थात् दूसरे से समृद्धि की प्राप्ति नहीं चाहती थी, अतः कुम्हलाते हुए मुख से दीनता दिखाती हुई पति को कहने लगी, मन में कामना न हो, फिर दीनता दिखानी तो कपट रूप है, पतिव्रत्य से विरुद्ध है, यदि कामना हो तो फिर दीनता करना तो कपट नहीं है, इस शङ्का के उत्तर में कहा है, कि, वह पतिव्रता है, अतः पतिरूपव्रत के उत्कर्ष के लिए यह साधन है इसलिए दोष नहीं है, अपने आप अपना उत्कर्ष नहीं है, यों जताने के लिए कहते हैं, दरिद्र थी। जिससे दुःखी थी उससे कुछ भी अर्थ नहीं, उसमें भी शरीर से कृशता वा कष्ट था, यदि पहले ही देह का वियोग हो जावेगा, तो व्रत का भङ्ग होगा, इस भय से यों करने लगी क्योंकि वह पहले जैसी है, यदि यों है तो इतना समय क्यों रुक गई और किसलिए कहा नहीं, जिसका उत्तर देते हैं कि काम्पती थी, कहते हुए किसी डर से नहीं कहा। शरीर ऐसा दुबला हो गया कि अब यह गिरेगा, अब भी न कहूँगी तो ठीक नहीं कारण कि, काल अब विलम्ब को सहन नहीं करेगा, इसलिए सन्मुख आकर निम्न प्रकार से पति के मन को प्रसन्न करती हुई स्तोत्रसम कहने लगी ॥ ८ ॥

आभास—तस्याः वाक्यानि निरूपयति **नन्विति** साद्धैस्त्रिभिः।

आभासार्थ—'ननु ब्रह्मन्' से साढ़े तीन श्लोकों से उसके वाक्य कहते हैं

श्लोक—**ननु ब्रह्मन्भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः।**
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान्सात्वतर्षभः ॥९॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन्! साक्षात् लक्ष्मी के पति, ब्राह्मणों के भक्त, शरणागतवत्सल, यदुश्रेष्ठ भगवान् आपके मित्र हैं ॥९॥

सुबोधिनी—सर्वथा अवसादे ईश्वरोपसर्पणं विहितम्। अत आपद्धर्मत्वात् सा बोधयति। नन्विति कोमलसंबोधनम्। ब्रह्मन् इत्यविकृतत्वाय। सिद्धदशैषा तव विषयभोगेपि न स्वरूपनाशः। किंच। भगवता स्वस्य रूपं त्वयि समर्पितम्। अतो **भगवतस्तव सखा भगवान् साक्षात्**। अनेन प्रतिग्रहस्तद्दोषश्च निवारितः। तस्याप्यस्मत्तुल्यत्वे व्यर्थमुपधावनमिति शङ्काव्युदासार्थं सख्यपदेनैव भगवत्त्वं प्राप्तमिति **साक्षाच्छ्रियः पतिरित्याह**। मूर्तिमत्याः आधिदैविक्या लक्ष्म्याः पतिस्तेन सर्वा संपदः तदधीना इत्युक्तम्। तथाप्यस्मभ्यं कथं दास्यतीत्यत्र हेतुमाह **ब्रह्मण्यः** इति। **चकारात्स्वतोप्युदारः**। किंच। **शरण्यश्च** यः शरणं गच्छति तस्मै च सर्वं प्रयच्छति अशर-

णगतावपि गमनमात्रेणैव दास्यतीति **च**करार्थः। नन्वेवं सति सर्वेभ्यो दाने पदार्थक्षयः अल्पावशेषे वा स्वार्थं स्थापयतीति शङ्कां वारयति **भगवानिति** | पूर्णसर्वशक्तिः। सेवकाः प्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यत आह **सात्वतर्षभ** इति। सात्वतानां परमभक्तानां ऋषभः स्वामी ॥९॥

व्याख्यार्थ—सर्व प्रकार दुःख की अवस्था हो, तब ईश्वर की शरण लेने की शास्त्राज्ञा है। आपद्धर्म होने से, वह पति को सविनय समझाके कहती है। 'ननु' यह कोमलता में संबोन्धनार्थ दिया है ब्रह्मन्! यह विशेषण इसलिए दिया है, कि आप किसी भी अवस्था में विकार को प्राप्त नहीं होते हैं। यह आप की सिद्ध दशा है। अतः विषयभोग करते हुए भी आपका स्वरूप नाश नहीं होगा, किञ्च, कारण कि, भगवान् ने अपना स्वरूप आप में स्थापित किया है अतः आप भगवान् है, जिससे आपका साक्षात् भगवान् मित्र है यों कहकर यह सिद्ध किया, कि उनसे कुछ भी ले लेने में कोई दोष नहीं है। यदि वे भी अपने तुल्य हैं, तो उसके पास दौड़कर जाना व्यर्थ है। इसके उत्तर में कहती है, कि नहीं, आपने तो भगवत्व सखा होने के नाते प्राप्त किया है। वे तो साक्षात् आधिदैविक लक्ष्मी के स्वामी हैं, इससे सकल सम्पदाएं उनके आधीन हैं। उनके हाथ में हैं, तो भी हमको कैसे देंगे? **देने** में कारण बताती है, कि 'ब्रह्मण्यः' ब्राह्मणों के भक्त हैं और 'च' पद से कहती है, कि स्वयं (खुद) स्वतः (अपने आप) भी उदार हैं, और शरण्य भी हैं, अतः जो भी शरण जाता है उसको सब कुछ देते हैं। दूसरे 'च' से यह बताया है, कि जो शरण भी न हो, केवल उनके पास जावे, तो भी उसको निहाल कर देते हैं। यों करते रहने से अर्थात् सबको देते हुए धन का क्षय होगा, शेष बचा हुआ अपने लिए रखेंगे, इस शङ्का का निवारण करने के लिए कहती है, कि 'भगवान्' सर्व शक्ति पूर्ण हैं। सेवक प्रतिबन्ध करेंगे? जिसके उत्तर में कहती है, कि नहीं करेंगे क्योंकि 'सात्वतर्षभः' सात्वत अर्थात् परम भक्तों के स्वामी हैं ॥ ९ ॥

आभास—किमतो यद्येवं तत्राह **तमुपैहीति**।

आभासार्थ—जो यों है, तो क्या? इस पर 'तमुपैहि' श्लोक में उत्तर देती है—

श्लोक—**तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम्।**
दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे महाभाग! सत्पुरुषों के रक्षक श्रीकृष्ण के पास जाओ आप सीदायमान (दुःखी) और कुटुम्बी को बहुत धन देंगे ॥१०॥

सुबोधिनी—तन्निकटे गच्छेति प्रार्थना। ननु महाभाग्यव्यतिरेकेण कथं भगवत्समीपगमनं तदभावश्च दारिद्र्यादेवावसीयते तत्राह **महाभागेति**। पातिव्रत्येन तद्भाग्यं प्रादुर्भूतं पश्यन्ती तथा संबोधयति। अनेनाल्पद्रव्येपि भाग्यरहितः कथं सर्वपुरुषार्थनिधिं प्राप्स्यतीति परिहृतम्। इदानीमेव प्रादुर्भावात्। किंच। **साधूनां च परायणं** ये स्वभावत एव दरिद्राः परमसाधवः तेषामपि। परमयनम्। **च**कारो युक्त्यन्तरमिदमिति ख्यापयितुम्। नन्वेवमपि को वेद दास्यति न वेति शङ्काव्युदासार्थमाह **दास्यति द्रविणं भूरीति**। तत्र हेतुः **सीदते ते कुटुम्बिने** इति। सीदत्कुटुम्बी पात्रम्। तत्रापि भवान् सर्वगुणसंपन्नः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—प्रार्थना करती है कि, उनके पास जाओ, उत्तम भाग्य के बिना कैसे भगवान् के समीप जाऊँ। उत्तम भाग्य तो है ही नहीं यह इस दरिद्रावस्था से समझ में आता है। इस पर कहती है, कि, हे महाभाग! आप बड़े भाग्य वाले हो, आपका महद्भाग्य मैं देख रही हूँ, क्योंकि मैं पतिव्रता हूं, पातिव्रत्य के प्रताप से जान गई हूँ, कि आप बड़भागी हो, यों कहकर यह सिद्ध किया है, कि आपके मन में जो यह शङ्का है कि मेरे पास अल्प पदार्थ हैं, इसलिए भाग्यहीन हूँ, कैसे सर्वपुरुषार्थ की निधि को पाऊँगा, आपकी यह शङ्का व्यर्थ है। आपका भाग्य अब खुल गया है, और विशेष यह है, कि जो स्वभाव से ही दरिद्र हैं परमसाधु हैं, उनके श्रीकृष्ण ही आश्रय हैं। 'च' से यह अन्ययुक्ति कही है, ऐसे हैं तो भी कौन जानता है कि मैं जाऊँगा तो मुझे देंगे? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहती है, कि बहुत धन आप को देंगे, कारण कि, आप गृहस्थ होने से कुटुम्ब वाले हो, और दरिद्रता के कारण दुःखी हो रहे हो, ऐसे ही दान के पात्र हैं, जिसमें भी, आप सर्वगुण वाले हैं ॥ १० ॥

आभास—कदाचिद्भगवानन्यत्र गत इति शङ्कां व्युदस्यति **आस्तेधुनेति**।

आभासार्थ—तूं कहती है, कि भगवान् के पास जा, वे वहां नहीं हों कदाचित् कहीं बाहर पधारे हों तो? जिसका उत्तर 'आस्ते' श्लोक में देती है।

श्लोक—**आस्तेधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः।**
स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति।
किं न्वर्थकामान्भजते नात्यभीष्टान् जगद्गुरुः ॥११॥

श्लोकार्थ—भोज, वृष्णि और अन्धक के वे ईश्वर हैं, अब द्वारका में विराजे हैं। जो इनके चरणों का स्मरण करते हैं, उनको अपनी आत्मा भी दे देते हैं, तो अर्थ और काम जो इनको प्रिय नहीं है उनके देने में कौनसी बड़ी बात है, क्योंकि ये जगत् के गुरु अर्थात् जगत् के हित करने वाले हैं, अतः वह ही देंगे जिससे हित होवे ॥११॥

सुबोधिनी—तस्य कार्यान्तरवैयग्र्याभावाय ऐश्वर्यं निरूपयति **भोजवृष्ण्यन्धकानामीश्वर** इति। त्रिगुणप्रधानास्त्रयो निरूपिताः। तथापि 'दाता जगति दुर्लभः' इति न्यायेन कदाचिन्न दद्यात्तत्राह **स्मरतः पादकमलमिति**। यः स्मरति तस्मै बहु प्रयच्छति। किंबहुना ब्रह्मानन्दं किंबहुना आत्मानन्दमपि। तत्र किं वक्तव्यं **भजते अर्थकामान्** ददातीति। नन्वर्थकामावेव चेत्तस्याभीष्टौ तदा न दद्यादित्यत आह **नात्यभीष्टानीति**। अनभीष्टं बह्वेव दीयत इति लोके प्रसिद्धम्। सर्वथा अनभीष्टं सख्ये न दास्यतीत्यत आह **नातीति**। किंचिदभीष्टत्वं वर्तत एव। अतः प्रथमं दत्त्वा पश्चाद्वशीकरिष्यतीति भावः। ननु पात्रं प्राप्य कदाचित्क्रूरं दास्यतीति शङ्कां वारयति **जगद्गुरुरिति**। सर्वेषां हितोपदेष्टा कथमन्यथा कुर्यादित्यर्थः। अनभीष्टत्वे वा हेतुः। अन्यथा जगद्गुरुत्वं न स्यादिति स्वयं विषयासक्तः न ह्यन्येभ्यो वैतृष्ण्यं बोधयितुं शक्नोति ॥११॥

व्याख्यार्थ—उनको अन्य कार्यों की व्यग्रता नहीं है, जिससे उनके ऐश्वर्य का निरूपण करती है। भोज, वृष्णि और अन्धकों के ईश्वर स्वामी हैं। ये तीन त्रिगुण प्रधान हैं, तो भी 'दाता [1]जगति दुर्लभः' इस न्याय से कदाचित् न भी देवें, इसका उत्तर देती है, कि जो उनके चरण कमल का स्मरण करता है, उसको बहुत देते है बहुत क्या कहूँ ब्रह्मानन्द तो देते हैं, किन्तु इससे भी विशेष आत्मानन्द को देने से नहीं हिचकते हैं, वह भी दे देते हैं, जब वे भी देते हैं तो फिर स्मरण करने वाले को अर्थ और काम देवे, तो इसमें क्या बड़ी बात है। अर्थ काम प्रभु को अत्यन्त अभीष्ट नहीं हैं, अतः वे देते हैं। लोक में यह प्रसिद्ध है, कि जो अपने को इच्छित (पसन्द) न हो वह ही बहुत दिया जाता है, किन्तु प्रभु जो **अभीष्ट** नहीं हैं वह मित्र को नहीं देते हैं, जो कुछ थोड़ा सा अभीष्ट भी दे देते हैं. किन्तु पहले अर्थ काम देकर पीछे मित्र वा भक्त के हितार्थ उनसे छीन लेते हैं। पात्र मिले, तो भी, कदाचित् क्रूर को दे देवे, इस शङ्का को मिटाती हुई कहती है, कि 'जगद्गुरुः' सबको हित का उपदेश करने वाले कैसे अहित करेंगे अथवा अनभीष्टपन में हेतु है, नहीं तो जगद्गुरुत्व ही न होवे, यों जो स्वयं विषयासक्त हैं, वह दूसरों को विषयों के त्याग का उपदेश नहीं दे सकते हैं ॥११॥

आभास—एवं तस्या वाक्यान्युक्त्वा तेषामावृत्त्या तस्यापि मनः किंचित्तथाजातमित्याह **एवं स** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार उसके वाक्यों के अभ्यास करने से ब्राह्मण का भी मन कुछ वैसा हुआ अर्थात् वहाँ जाने की इच्छा हुई, जिसका वर्णन 'एवं स' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**एवं स भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मुहुः।**
अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—इस तरह स्त्री ने बार बार बहुत प्रार्थना की तब उसने सोचा कि वहाँ जाने से भगवान् के दर्शन होंगे यह ही परम लाभ है ॥१२॥

सुबोधिनी—ननु स्वत एव कुतो न गतः किमिति भार्यया प्रार्थितः यतो भगवद्दर्शनं सर्वेषामेवाभीष्टं तत्राह **विप्र** इति। **बहुशो** बहुप्रकारेण उक्तसदृशेन। **मुहुः** एकस्मिन्नपि दिवसे वारं वारं भर्त्रे रोचत इति। ततः तस्य गमनार्थमालोचनमाह **अयं हि परमो लाभ** इति। **उत्तमश्लोकस्य दर्शनं** ब्रह्मभावादपि दुर्लभम्। यतो ब्रह्मणोपि तद्वाञ्छितम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—अपने आप ही क्यों न गया ? **स्त्री** की प्रार्थना करने पर जाने का विचार क्यों किया ? भगवान् का दर्शन तो सभी को अभीष्ट है। इसका उत्तर है कि 'विप्रः' ब्राह्मण है, स्त्री ने बहुत प्रकार से एक ही दिन बार-बार प्रार्थना इस प्रकार की, जैसे पति को पसन्द आवे, पति प्रसन्न हो उसको स्वीकार करे, पश्चात् उसके जाने की इच्छा का विवरण देते हैं कि यह ही महान् लाभ है, भगवान् का दर्शन ब्रह्मभाव से भी दुर्लभ है; क्योंकि ब्रह्म भी उसको चाहता है ॥१२॥

१— जगत् में देने वाला दुर्लभ होता है,

श्लोक—**इति संचिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे।**
अप्यस्त्युपायनं किंचिद्गृहे कल्याणि दीयताम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—यों मन में विचार कर, उसने जाने का विचार किया और अपनी स्त्री से कहा कि 'हे कल्याणिः' घर में कुछ भी भेंट के लायक होवे तो दे ॥१३॥

सुबोधिनी—एवमेकं कार्यमुभयं साधयिष्यतीति **संचिन्त्य**, इदं गोप्यं भार्यायै न वक्तव्यमिति **मनसे**त्युक्तम्, अन्यथा साप्यागच्छेत्। ततो **गमनाय मतिं दधे**। ततो गमनसामग्रीं विचारयन् 'रिक्तहस्तो न पश्येत' इत्युपायनं याचितवान्। याचनावाक्यमाह **अप्यस्ती**ति। **अपी**ति संभावनायाम्। **कल्याणीत्वात्** कदाचित् कुतश्चित् प्राप्नुयात्, गृहेऽस्ती**ति** प्रश्नः। नास्तीत्युक्ते कदाचिद्गमनप्रतिबन्धकमेतदेव भवेत् इति तूष्णीं स्थिता। ततः अप्रतिषिद्धमनुमतं भवतीति ज्ञात्वा याचयति **दीयतामि**ति ॥१३॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण ने विचार किया कि इस प्रकार करने से एक कार्य, दोनों को सिद्ध करेगा, यह विचार गुप्त रखना चाहिए स्त्री को भी नहीं कहना चाहिए, यों मन में निश्चय कर लिया, यदि सुनाऊँगा तो वह भी कहेगी. कि मैं भी चलूँ यों निश्चय करने के बाद जाने का विचार किया, बाद में जाने की सामग्री का विचार करते हुए समझा, कि भगवान् के यहाँ खाली हाथ नहीं जाना चाहिए, अतः भेंट के लिये स्त्री को कहा, कि भेंट के लिए कुछ भी घर में है ? स्त्री को 'कल्याणिः' यह संबोधन देने का आशय यह है, कि कदाचित् घर में कुछ भी न होगा तो कहीं से भी लाएगी, घर में है ? यों प्रश्न रूप में कहा है, घर में तो था नहीं, अब यदि स्त्री पति को कह देवे, कि नहीं है, तो जाने में रुकावट होगी इसलिए चुप रही, यदि निषेध न किया गया तो समझ में आया कि है। अतः पति ने कहा कि दो ॥ १३ ॥

श्लोक—**याचित्वा चतुरो मुष्टीन् विप्रान् पृथुकतण्डुलान्।**
चैलखण्डेन तान्बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम्। १४॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणी ने ब्राह्मण गृह से चार मुट्ठी तण्डुल (चावल) मांग कर चीथड़े में बांधकर, पति को भेंट के लिए दिये ॥१४॥

सुबोधिनी—सा च पतिव्रता भर्तृवाक्यं प्रतिपालयितुं **चतुरो मुष्टीन् पृथुकतण्डुलान्** धान्यचिपिटान्, ते मध्ये भक्षयितुमपि शक्यन्त इति तानेव याचयित्वा **चैलखण्डेन** स्ववस्त्रखण्डेन **तान् बद्ध्वा** स्वभर्त्रे **उपायनं प्रादात्**। एतद्भगवते देयमिति। अबद्ध्वा दाने कदाचिदन्यस्मै प्रयच्छेत्पातयेद्वा ॥१४॥

व्याख्यार्थ—वह पतिव्रता थी, पति की आज्ञा पालन करना अपना धर्म समझकर, चार मुट्ठी चावल मांग कर ले आई, यदि वे यों ही दिए जावें, तो मार्ग में खाये जा सकते हैं अतः अपने कपड़े

के चीथड़े में बान्धकर, अपने पति को कहा कि लीजिए, यह भेंट भगवान् के लिए है, उनको देनी, बान्धने का कारण यह था, कि कदाचित् दूसरे को देवे अथवा गिरा दे अतः बान्धकर दिया ।। १४ ।।

आभास—ततो भगवन्तं प्रति सोपायनस्य गमनमाह **स तानादाये**ति ।

आभासर्थ—'स तानादाय, श्लोक में कहते हैं, कि वह उस भेंट को लेकर भगवान् के पास जाने लगा ।

श्लोक—**स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल ।**
कृष्णसंदर्शनं मह्यं कं स्यादिति चिन्तयन् ।।१५।।

श्लोकार्थ—वह उत्तम ब्राह्मण उन चावलों को लेकर द्वारका रवाना हुआ, मार्ग में विचार करता गया, कि मुझे श्रीकृष्ण के दर्शन कैसे होंगे ? ।।१५।।

सुबोधिनी—**किले**ति प्रमाणम् । मध्ये यो गच्छति स स्वाभिलषितं चिन्तयति ततोयमपि **चिन्तयन्** गच्छति । तत्किं धनं दर्शनं वेति संदेहे तन्निवृत्त्यर्थमाह **कृष्णसंदर्शनमि**ति । न तु **कथं** कियद्वा धनं प्राप्स्यामीति ।।१५।।

व्याख्यार्थ—'किल' शब्द से प्रमाण कहा है, अर्थात् वह द्वारका गया यह निश्चित सत्य है । जो कोई कहीं भी जाता है तो मार्ग में जाते हुए अपने अभिलषित का चिन्तन करता है, वैसे ही यह भी विचार करता हुआ जा रहा था, वह क्या विचार करता था, कि मुझे धन वा दर्शन चाहिए ? इस संदेह की निवृत्ति कर कहता है, कि मुझे तो श्रीकृष्ण के दर्शन चाहिए वे होंगे कि नहीं ? धन तो कितना वा कैसे प्राप्त करूँगा ? ।। १५ ।।

आभास—ततः दुर्गत्वात् रक्षकास्तत्र तत्र स्थिताः ते कमपि न प्रवेशयन्ति अज्ञातचरम् तत्र कथमयं गत इति शङ्कां निवारयति **त्रीणि गुल्मान्यतीयाये**ति ।

आभासार्थ—वहां तो दुर्ग (किला) है, दुर्ग के द्वार पर रक्षक स्थित होते हैं, वे किसी नये मनुष्य को भीतर जाने नहीं देते हैं । वहां यह कैसे गया ? इस शङ्का को 'त्रीणिगुल्मानि' श्लोकों में निवारण करते है—

श्लोक—**त्रीणि गुल्मान्यतीयाय तिस्रः कक्षाश्च स द्विजः ।**
विप्रो गम्यान्धकवृष्णीनां गृहेष्वच्युतधर्मिणाम् ।।१६।।

गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः ।
विवेशैकतमं श्रीमद्ब्रह्मानन्दं गतो यथा ।।१७।।

श्लोकार्थ—तीन रक्षकों की चौकियों को और तीन दरवाजों का उल्लङ्घन कर आगे गया, जहाँ प्रवेश न हो सके, ऐसे भगवान् के सेवक अन्धकवृष्णि आदि के घर आए, ब्राह्मण था, यों जानकर किसी ने रोका नहीं, तब तो भगवान् की सोलह सहस्र पटराणियों के घर के पास पहुँचे, उनमें से एक घर में प्रविष्ट हुआ, तब उसको ऐसा आनन्द हुआ, मानो ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट हुआ है ।।१६-१७।।

सुबोधिनी—**गुल्मानि** सेनाभेदाः । **कक्षाः** प्राकारभेदाः। गुल्मशब्देन गुल्मकृतवनदुर्गाणि वा। निःशङ्कगमने हेतुः **स द्विज** इति। द्विजैः सहितः, स एव वा द्विजः । द्विजत्वं साधारणमिति विशेषेण पूरणत्वं च वदन् विप्रत्वमाह **अन्धकवृष्णीनाम् । अच्युतधर्मिणां** वैष्णवानां परितो व्याप्तानां **गृहेषु** मध्ये हरेः **द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां गृहेषु** च मध्ये । **द्विजः** अप्रत्याख्येयः । **एकतमं गृहं विवेश** । भगवानत्र स्थास्यतीति । तत्र हेतुः **श्रीमद**िति शोभासंपत्त्यतिशययुक्तम् । तत्र गमनमात्रेणैव तस्य यावस्था तामाह **ब्रह्मानन्दं गतो यथे**ति । द्वारकायां वैकुण्ठावेशात्तस्य च ब्रह्मत्वात् तन्मध्ये भगवद्गृहस्य च आनन्दांशत्वात् तत्र प्रविष्टो ब्रह्मानन्दं प्राप्नोत्येव । **यथे**ति प्रकारभेदार्थमुक्तम् ।।१६-१७।।

व्याख्यार्थ—'गुल्मानि' सेवा के भेद 'कक्षाः' कोट के भेद अथवा गुल्म शब्द से पेड़ों से बने दुर्ग, बिना शङ्का के भीतर चले जाने में कारण उसका ब्राह्मणत्व था, ब्राह्मणों के साथ था अथवा वह ही एक ब्राह्मण था, साधारण द्विज नहीं था, किन्तु 'विप्र' था अर्थात् विद्या, तप और भक्ति आदि से पूर्ण ब्राह्मण था । अच्युतधर्मी अर्थात् वैष्णव, जो अन्धक वृष्णि थे उनके घरों के मध्य में, भगवान् की षोडश सहस्रा (सोलह हजार) पटराणियों के गृह थे । उन घरों में से एक गृह में प्रविष्ट हुआ, ब्राह्मण होने से रोका नहीं जा सकता । यहां भगवान् विराजमान होंगे । जिसमें कारण, विशेष सम्पत्ति तथा शोभा वाला यह गृह है, उसमें प्रविष्ट होते ही, जैसी अवस्था ब्राह्मण की हुई, वैसी ही वर्णन की जाती है । मानों ब्रह्मानन्द में प्रवेश हुआ है । द्वारका में वैकुण्ठ का आवेश होने से, उसका ब्रह्मपन होने से, उसके मध्य में भगवद्गृह आनन्दांश होने से, वहां प्रविष्ट को ब्रह्मानन्द प्राप्त होता ही है, 'यथा' शब्द, प्रकार भेद बताने के लिए कहा है ।। १६-१७ ।।

आभास—ततः परितो विलोकनसामर्थ्यरहितः आनन्दानुभवेन निमीलिताक्ष इव भगवता दृष्ट इत्याह **तं विलोक्ये**ति ।

आभासार्थ—पश्चात् चारों तरफ देखने में असमर्थ, आनन्द के अनुभव से आँखे जिसकी मानों बन्द हो गई हैं, वैसे को भगवान् ने देखा, यह 'तं विलोक्य' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रियापर्यङ्कमास्थितः ।**
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ।।१८।।

श्लोकार्थ—प्यारी के पलङ्ग पर विराजमान भगवान् दूर से उस ब्राह्मण को देख,

पलङ्ग से उठ त्वरित (जल्दी से) निकट आए और प्रेम से दोनों भुजा पसार उससे आलिङ्गन करते हुए मिले ।।१८।।

सुबोधिनी—**प्रियापर्यङ्के** लक्ष्मणापर्यङ्के, विरतिवेलायां चतुर्थप्रहरे रात्रौ वा प्रियापर्यङ्के भगवानुपविष्टः । सा लक्ष्मणा चिह्नेन लक्ष्मीर्भवति । ततः **सहसोत्थाय** अग्रे समागत्य **दोर्भ्यां पर्यग्रहीत्** । अनेन तुल्यता निरूपिता । **मुदेत्यान्तरो** भावः । यथा भगवत्संबन्धे तस्य हर्षः एवं तत्संबन्धे भगवतोपि, भक्तत्वादिति ज्ञापितम् । ।।१८।।

व्याख्यार्थ—भगवान् प्यारी लक्ष्मणा के पलँग पर, विरति के समय अथवा रात्रि के चौथे प्रहर में विराजमान थे, वह लक्ष्मणा चिन्ह से लक्ष्मी थी, अनन्तर झटपट उठकर सामने आके दोनों भुजाओं से आलिङ्गन कर उससे मिले, यों कहने से समानता (बराबरी) दिखलाई, 'मुदा' पद से भीतरी प्रेम भाव प्रकट करना कहा है जिस प्रकार भगवान् के मिलने पर इस ब्राह्मण को प्रसन्नता हुई, वैसे ही भगवान् को भी हर्ष हुआ, क्योंकि यह भक्त था यों प्रकट किया ।। १८ ।।

आभास—तत आनन्दापूरित इव लीलां कृतवानित्याह **सख्युः प्रियस्येति** ।

आभासार्थ—बाद में आनन्द से पूर्ण की तरह ही लीला की, निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।**
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ।।१९।।

श्लोकार्थ—अपने प्रिय मित्र विप्रर्षि के अङ्गस्पर्श से अति आनन्द युक्त कमल नयन भगवान् के नेत्रों में से प्रेम के कारण आँसू गिरने लगे ।।१९।।

सुबोधिनी—सखित्वात्तस्य यथा जातं तथैव भाव्यम् । भगवतोपि सुतरां **प्रियस्य** स प्रीतिविषयः पूर्वत्र हेतुरपि भवति । ततोपि **विप्रर्षिः** ब्राह्मणोत्तमः अलौकिकः परमानन्दोप्यस्मिन् प्रादुर्भूत इति । तत्सङ्गे **नातिनिर्वृतः** अन्तःसुखं प्राप्तवान् । ततः प्रीत्या मनस्तं द्रष्टुं बहिरागतमिव **नेत्राभ्यां अब्बिन्दून् व्यमुञ्चत् । पुष्करेक्षण** इति कृपालुत्वमुक्तम्, हेतुत्वेन ।।१९।।

व्याख्यार्थ—सखापन से जैसे उसको हर्ष हुआ, वैसा ही होना योग्य था, इसलिए प्रिय भगवान् को भी वह प्रीति विषय हुआ इसमें पहले काल[1] का विषय भी हेतु था, उससे भी विशेष यह 'विप्रर्षि' अर्थात् ब्राह्मणों में भी उत्तम ब्राह्मण था और इसमें अलौकिक परमानन्द भी प्रकट हुआ है, अतः उसके सङ्ग से अत्यन्त अन्तः सुख को प्राप्त हुए, अनन्तर वा उससे[2] प्रेम के कारण, मन, उस ब्राह्मण को देखने के लिये मानों जलरूप से नेत्रों द्वारा आया जिसमें हेतु यह है, कि भगवान् कृपालु हैं, इसको सिद्ध करने के लिए ही भगवान् का 'पुष्करेक्षणः' नाम[3] दिया है ।। १९ ।।

१– सखा का दान जिस समय किया २– अन्तः सुख प्राप्त होने से ३– विशेषण

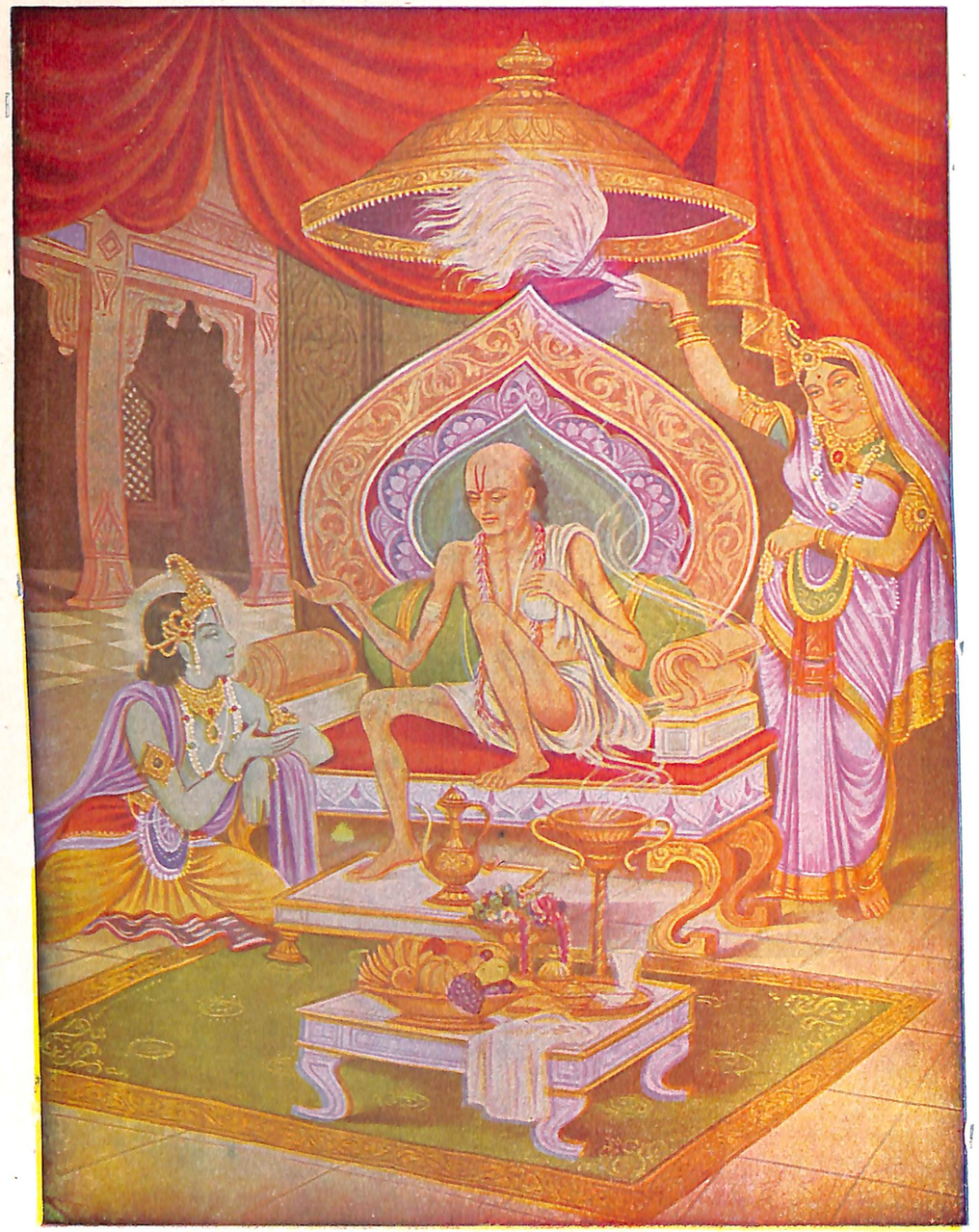

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

सुदामा-सत्कार

आभास—ततो भार्याकृतवैलक्षण्यमावश्यकमिति तेनैव सख्यं न्यूनं भविष्यतीति शङ्कायामाह **अथोपवेश्य पर्यङ्के** इति ।

आभासार्थ—उसके अनन्तर स्त्रीकृत विलक्षणता आवश्यक है, उससे सखा भाव कम होगा, इस शङ्का का निम्न श्लोकों में उत्तर देते हैं—

श्लोक—**अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम् ।**
उपाहृत्यावनिज्यापः पादौ पादावनेजनीः ॥२०॥
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लोकपावनः ।
व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः ॥२१॥
धूपैः सुरभिर्भिमित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा ।
अर्चित्वावेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत् ॥२२॥

श्लोकार्थ—फिर उस मित्र को पलङ्ग पर बिठाकर, पूजा की सर्व सामग्री स्वयं लाकर भगवान् ने उसके चरण धोए, यद्यपि आप स्वयं लोक पावन हैं, तो भी आपने उसके चरणों का जल सिर पर चढ़ाया । महाराज! पश्चात् दिव्यगन्ध, चन्दन, अगरु, केशर इनका अरगजा लगाकर सुगन्धी धूप किया तथा दीपावलियों से आरती की, इस प्रकार पूजा कर ताम्बूल दिया और गौदान दिया, अनन्तर स्वागत किया ॥२०–२२॥

सुबोधिनी—ततः **सख्युः समर्हणं स्वयं** कृतवान् । अस्य पादा**ववनिज्य** समर्हणसाधनान्युपाहृत्य **पादावनेजनीः अपः शिरसाग्रहीत्** । धर्मोयमिति नात्र दूषणम् । लोकशिक्षार्थं च धर्मकरणम् । **राजन्निति** संमत्यर्थम् । विशेषतः चरणोदकधारणे अभिप्रायान्तरमाह **लोकपावन** इति । स हि सर्वलोकात्मकः ब्राह्मणेपि स्वयं स्थित इति पूर्वमुक्तं तेन स्वचरणारविन्दोदकेन लोकान्पावितवानित्युक्तम् । नैतावता त्वपकर्षः यतो **भगवान्** । ततः पूजामाह **व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेनेति** । पूजया प्राप्तदेवत्वं वारयति **मित्रमिति** । **प्रदीपावलिभिरा**रात्रिकैः । अनेन तस्य सुखं तथा यद्यपि न भवति तथापि **मुदा** कृतवान् । ततः पुष्पैः शिरसि **अर्चित्वा ताम्बूलं** निवेद्य **गां** च विधिपरिपालनार्थम् । पश्चात्**स्वागतमब्रवीत्** । अत्र वृषभो गौः ॥२०–२२॥

व्याख्यार्थ—पलँग पर बिठाने के बाद सखा की पूजा स्वयं करने लगे, इसके बाद प्रक्षालन और पूजन की सामग्री लाकर अनन्तर पाद प्रक्षालन (पैर धो) कर वह चरण जल शिर पर धारण किया, यह धर्म है, इसमें कोई दूषण नहीं है लोक को शिक्षा देने के लिए स्वयं धर्माचरण किया, हे राजन्! कहकर उसकी भी सम्मति ली है । चरणोदक धारण करने का विशेष अभिप्राय प्रकट करते हैं, कि 'लोक पावनः' वह चरण जल लोक को पवित्र करने वाला है, कारण कि, भगवान् सर्वलोका-

त्मक हैं अतः ब्राह्मण में भी स्वयं (खुद) विराजमान हैं, यों पहले कहा है, इससे अपने चरणारविन्द के जल से लोकों को पवित्र करने लगे इससे किसी प्रकार न्यूनता नहीं होती है। क्योंकि स्वयं भगवान् हैं, अब पूजा कहते हैं, दिव्य गन्ध से ब्राह्मण के शरीर को लिप्त किया, पूजा की इससे यों समझा जा सकता है, कि वह देव है। उसका निवारण करने के लिए कहा है, कि मित्र है, इसलिए पूजादि किया है। दीपों से आरती की, यद्यपि आरती से उसको वैसा सुख नहीं होता है तो भी आपने प्रसन्नता पूर्वक हर्ष से की है, आरती के बाद, शिर पर पुष्पों की वर्षा कर ताम्बूल दिया, विधि का पूर्ण पालन हो जाय इसलिए गौ भी दी, पश्चात् स्वागत वाक्य कहने लगे यहाँ गौ से वृषभ समझना चाहिए ॥ २०-२१-२२ ॥

आभास—ततो भार्यापि पतिव्रतात्वान्मात्सर्यादिकमकृत्वा तं पूजितवतीत्याह **कुचैलमिति**।

आभासार्थ—पश्चात् स्त्री ने भी उसकी पूजा की, पतिव्रता होने से उसमें मात्सर्य आदि दोष नहीं थे, यह 'कुचैलं' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसंततम्।**
देवी पर्यचरच्छैव्या चामरव्यजनेन वै ॥२३॥

श्लोकार्थ—मैले-फटे जीर्ण वस्त्र पहने, मलीन, दुर्बल, जिसकी नसें देखने में आ रही हैं, ऐसे ब्राह्मण को शैव्या नाम रानी चमर से पंखा करने लगी ॥२३॥

सुबोधिनी— **मलिनभग्नस्थूलवस्त्रं** शरीरसंस्काररहितम्। **दुर्बलं, धमनिभिः** शिराभिः **संततम्**। तथापि **द्विजं** ब्राह्मणस्यैषैव शोभा। तादृशमपि **देवी** देवतारूपा लक्ष्म्यावेशात्, **शैव्या** लक्ष्मणा **चामरव्यजनेन पर्यचरत्**। पूर्वं भगवति चामरव्यजनं कुर्वाणा स्थिता। पश्चाद्ब्राह्मणपूजायामपि तथैव कुर्वाणा स्थितेत्यर्थः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—मलीन, फटे स्थुल वस्त्र वाले शरीर का संस्कार अर्थात् स्नानादि से मैल मिटाने के लिए कोई उपाय न करने से मैले, दुर्बल भी ऐसा था जो शरीर की नसें प्रकट देखने में आ रही थी, ऐसा था तो भी ब्राह्मण था, ब्राह्मण की यह ही शोभा है। ऐसे की भी देवता रूप लक्ष्मी के आवेश वाली शैव्या (लक्ष्मणा) चंवर से वायु की सेवा करने लगी, पहले भगवान् को चंवर से हवा करती थी, जब भगवान् ब्राह्मण की पूजा कर रहे थे तब यह चंवर डुला रही थी ॥ २३ ॥

आभास—एवमुभाभ्यां पूजितं दृष्ट्वा तत्रत्या आश्चर्ययुक्ता जाता इत्याह **अन्तःपुरजन** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्राह्मण को दोनों से पूजित देखकर वहां जो स्थित थे वे अचम्भे में पड़ गए, यह निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीर्तिना।**
विस्मितोभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—अमल कीर्ति वाले भगवान् कृष्ण ने उस मलीन ब्राह्मण का अति प्रीतिपूर्वक सत्कार किया, वह देखकर अन्तःपुर के जन विस्मय में पड़ गए अर्थात् चकित हो गए ॥२४॥

सुबोधिनी—**कृष्णेन सभाजितमवधूतं** दृष्ट्वा **विस्मितोभूत्**। अनेन भगवत्यपि अपकर्षो भाव्यतीति शङ्काभावायाह **अमलकीर्तिनेति**। तत्रापि सोऽवधूतः मलिन एव अन्यद्वारा मलापकर्षणं कृत्वा पश्चात्पूजापक्षो निवारितः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—कृष्ण ने इस अवधूत का पूजन किया यह देख चकित हुए, इससे भगवान् का भी निरादर हुआ, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा, कि वे तो सदैव निर्मल कीर्ति वाले हैं, भगवान् ने ऐसी अवस्था में भी परम प्रेम से पूजा की, इससे यह बताया कि दूसरों से मैल सफा कराके फिर पूजा नहीं की ॥ २४ ॥

आभास—विस्मितानां वाक्यमाह **किमनेनेति**।

आभासार्थ—विस्मितों के वाक्य 'किमनेन' श्लोक से कहते है—

श्लोक—**किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा।**
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन्गर्हितेनाधनेन च ॥२५॥

श्लोकार्थ—इस निर्धन, भिखारी, शोभा से रहित, निन्दित अवधूत ने इस लोक में कौनसा पुण्य किया है ? ॥२५॥

सुबोधिनी—ते सर्वे पुण्यफलमेव शुभं मन्यन्ते अदृष्टपूर्वत्वात्। **किमित्याशङ्का**। किंचित्तथा भविष्यतीति चेत्तत्राहुः **अवधूतेनेति** पञ्च विशेषणानि। यद्यस्य धर्मो भवेत् तदा प्रथमं धर्मोत्पादितं शरीरं भवेत्। तत्र च पापकार्यरूपं रजो न श्लेषं प्राप्नुयात्। अयं **चावधूतः**। किंच। यद्यस्य धर्मो भवेत् देहोत्पत्त्यनन्तरं देहपोषार्थं सदन्नं भवेत्। तदपि नास्ति यतोयं **भिक्षुः**। किंच। यद्यस्य धर्मो भवेत्, देहे कान्त्यतिशयो भवेत्, अयं च **श्रिया हीनः** लौकिकी संपत्तिश्च अनेनैव समुचिता। किंच। यद्यस्य धर्मो भवेत्। तदा लोके कीर्तिर्भवेत्, अयं च लोके **गर्हितः**। **अस्मिन्निति** वयमेवात्र प्रमाणम्। इहलोकवत् परलोकोपीति सूचितम्। किंच। धर्मे विद्यमाने तत्कार्यमस्य धनं भवेत्। अयं **चाधनो** दरिद्रः। अधम इति वा क्वचित्पाठः। तदा संस्कारसामग्र्यभावात्तथोक्तिः। **चकारादन्येपि** लक्षणादयः संगृहीताः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—वे सब, यह इतना शुभ जो इसका हो रहा है, वह पुण्य का ही फल है। किन्तु वह अदृष्ट होने से, समझ में नहीं आता है। 'किम्' पद से शङ्का प्रकट की है, कि वह कौन से पुण्य हैं? यदि कहो, कि थोड़ा कुछ पुण्य होगा, इस पर कहते हैं कि एक तो इसका शरीर अवधूत सा है, यदि इसने थोड़ा भी धर्म किया हो तो प्रथम धर्म के फल रूप उत्तम शरीर की प्राप्ति होती। पाप कार्य फलरूप मैल से भरे अङ्ग न होते। यह तो अवधूत है, जो इसने कोई पुण्यधर्म किया हो, तो उसके फल में देह प्राप्त हो जाने के बाद इसको उत्तम अन्न की प्राप्ति होनी चाहिए। वह भी इसके पास नहीं है, अतः भिखारी है और यदि इसने धर्म दानादि किया हो, तो इसकी देह में विशेष कान्ति होनी चाहिए, यह तो शोभा से हीन है और इसने लौकिक सम्पत्ति भी गँवा दी है, फिर जो इसने पुण्य कर्म किया है, तो लोक में इसकी कीर्त्ति होनी चाहिए, इसको तो लोक सब निन्द रहे हैं, जैसे यह लोक वैसे परलोक भी समझना चाहिए यों सूचित किया, यदि इसने धर्म किया हो, तो उसका फल धन, इसके पास होना चाहिए, यह तो निर्धन अर्थात् दरिद्र है, किसी पुस्तक में 'अधम' यों पाठ है तब संस्कार सामग्री के अभाव के कारण यों कहा है, 'च' पद से दूसरे भी लक्षण आदि ग्रहण किए हैं ॥ २५ ॥

आभास—ननु किमस्य जातं येनैतावदुच्यत इति इति तत्राह **योसाविति** ।

आभासार्थ—तो, इसका कौन सा कर्म था जिससे इतना कहा जाता है इस पर 'योसौ' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**योसौ त्रैलोक्यगुरुणा श्रीनिवासेन संभृत ।**
पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोग्रजो यथा ॥२६॥

श्लोकार्थ—त्रिलोकी के गुरु, लक्ष्मी के निवास स्थान, भगवान् ने पलँग पर लक्ष्मी को छोड़कर, ज्येष्ठ भाई के समान मिलकर इसका जो आदर किया, सो इसने ऐसा कौनसा पुण्य किया है? ॥२६॥

सुबोधिनी—त्रैलोक्यगुरुणा। भगवान् हि लोकशिक्षार्थं कर्माणि करोति। लोके यद्येतादृशेनापि सख्यं बोधयेत् तदा नीचैरपि लोकाः सख्यं कुर्युः। किंच। भगवान् **श्रीनिवासः** यदि पुण्यरहितोऽपि लक्ष्म्या संयुज्येत तदा कोपि दरिद्रो न भवेत्। एतादृशेन **संभृत** इति किंचित्पुण्यमस्तीति ज्ञायते। किंच। धर्मसमये चेदयमागच्छेत्तदा धर्मार्थं करोतीति ज्ञायते। अयं तु कामसमये समागतः तमपि परित्यज्य **परिष्वक्तः** अतश्चेत्तदा महानस्य धर्मोऽस्तीति ज्ञायते काम्यश्च परमकाष्ठापन्नः। किंच। महता आदरेण **परिष्वक्तः**। अनेनान्तरोपि भावोस्मिन्वर्णितः। तं भावं निरूपयितुं दृष्टान्तमाह **अग्रजो** बलभद्रो **यथेति**। कदाचिद्देशान्तराद्बलभद्रः समागच्छेत्तदा भगवानेवमादरं करोतीत्यर्थः। पूजात्वधिका ॥२६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् त्रैलोक्य के गुरु हैं, अतः आप सर्व कार्य, लोक को शिक्षा देने के लिए ही करते हैं। लोक में यदि अपने से निम्न कोटि के इस प्रकार के जीवों से भी भगवान् मित्रता करते

हैं, तो उसको देखकर मनुष्य भी अपने से जो निम्न कक्षा के हों उनसे भी सख्य करना सीख कर मित्रता करें। फिर भगवान् लक्ष्मी निवास हैं, यदि पुण्य रहित भी लक्ष्मीवान् हो जावे, तो कोई भी दरिद्र न रहे, इससे समझा जाता है, कि इसके कुछ पुण्य हैं, और धर्म के समय यदि यह आया है तो समझना चाहिए, धर्म के लिए करता है। किन्तु यह तो काम के समय आया है। उस काम विषयक कार्य को भी छोड़कर भगवान् इससे मिले। तब जाना जाता है, कि इसने कोई महान् धर्म कार्य किया है, अतः यह परम काष्ठा को प्राप्त होता हुवा (परब्रह्म) भी कामना से युक्त है, जो इससे साधारण रीति से नहीं किन्तु बहुत आदर से मिले, जिससे समझ में आता है, कि इसमें आन्तर भाव भी है, उस भाव को निरूपण करने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि किस प्रकार उससे मिले, बलरामजी कभी अन्य देश से आते हैं तब भगवान् महान् आदर से उनसे जैसे मिलते हैं, वैसे ही इससे भी मिले, बलभद्र की पूजा नहीं करते हैं इसकी तो पूजा भी की, यह फिर उससे विशेषता बताई ॥ २६ ॥

आभास—एवं कायिकमानसिकसंतोषजननमुक्त्वा वाचिकसंतोषजननमाह **कथयांचक्रतुरिति** ।

आभासार्थ—इसी तरह काया और मन से सन्तोष पैदा करना कहकर अब वाणी से संतोष उत्पन्न करने के लिए 'कथयांचक्रतुः' श्लोक कहते है—

श्लोक—**कथयांचक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः ।**
आत्मनो ललिता राजन्करौ गृह्य परस्परम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! भगवान् और सुदामा परस्पर हस्त से हस्त मिलाकर, जब गुरुकुल में थे उस समय की सुन्दर कथाएँ आपस में कहने लगे ॥२७॥

सुबोधिनी—गाथाः पूर्वकथानिबद्धाः श्लोकाः। याः **पूर्वं गुरुकुले सतोः** संबन्धिन्यः ताः **कथयांचक्रतुः** कथानिमित्तं वा स्मृत्वा कथयामासतुः। ता **आत्मनो ललिताः** स्वस्यैव प्रियजनिकाः। **राजन्निति** सावधानार्थम्। **परस्परं करौ** गृहीत्वेति तुल्यतामापाद्य ये श्लोकाः या वा श्रुतयः ताः परस्परसंतोषार्थं प्रथमं पठितवन्तः ततो भगवानाह। समुदायानुवादो वा ॥२७॥

व्याख्यार्थ—'गाथाः' का आशय है कि पहली कथा के बने हुए श्लोक जो कार्य गुरुकुल में रह कर किए थे, उसके सम्बन्धवाली कहानियाँ, उनको कहने लगे, अथवा कथा का कारण याद कर कहने लगे, वे कथाएँ अपने को आनन्द देने वाली थीं, हे राजन्! यह सावधान होने के लिए सम्बोधन दिया है, आपस में हाथ हाथ से मिलाकर अपनी समता सिद्ध कर जो श्लोक अथवा श्रुतियाँ थीं वे परस्पर सन्तोष पैदा करने के पहले कहने लगे। अब भगवान् कहते हैं, अथवा समुदाय का अनुवाद है ॥ २७ ॥

आभास— तत्र प्रथमं भगवद्वाक्यानि षोडशभिराह **अपि ब्रह्मन्निति** वाक्यैः। तस्य

संपत्त्यभावोपि स्थिरीक्रियते । अन्यथा वर्णनार्थमेव तथा वर्णितः स्यात् । तत्र प्रथमं वियोगावधि यज्ञातं तत्पृच्छति **अपी**ति त्रिभिः—

आभासार्थ—पहले 'अपि ब्रह्मन्' श्लोक से १९ श्लोकों से भगवान् के वाक्य कहते हैं, उसके पास सम्पत्ति नहीं है, यह भी स्थिर करते हैं, नहीं तो वर्णनार्थ ही वैसे वर्णित होगा, उसमें पहले वियोग की अवधि में जो कुछ हुआ वह भगवान् पूछते हैं 'अपि' से तीन श्लोकों में—

श्लोक—श्री भगवानुवाच—**अपि ब्रह्मन्गुरुकुलाद्भवता लब्धदक्षिणात् ।**
समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ।।२८।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! तुमने गुरुकुल में से गुरुदक्षिणा देकर घर लौट आने के बाद, अपने योग्य स्त्री से विवाह किया है कि नहीं ? हे धर्मज्ञ प्रथम यह बात बताओ ।।२८।।

सुबोधिनी—विद्यासमाप्तिस्तदैव जाता तदनु नैष्ठिकब्रह्मचर्यं वा समावर्तनेन विवाहो वा कृत इति वक्तव्यं तदर्थं पृच्छति । **ब्रह्मन्निति** संबोधनात् विद्यासिद्धिः सूचिता । **गुरुकुलात्** ब्रह्मचर्यं गुरुकुले अदृष्टार्थमपि स्थित्या भवति । गुर्वभावे तत्पत्न्यां तत्पुत्रे तद्गोत्रे वा ब्रह्मचर्यमिति ज्ञापयितुं कुलपदम् । 'गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया' इति स्नानाख्यं समावर्तनं दक्षिणादानानन्तरं भवति । तदनन्तरं च 'चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः । द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्' इति तदनन्तरं विवाहः । तत्राह **गुरुकुलाल्लब्धदक्षिणात्समावृत्तेन** । तदनन्तरं समावर्तनसंस्कारेण संस्कृतेन । हे **धर्मज्ञ** धर्मरहस्याभिज्ञ । **सदृशी** स्वस्य सर्वतः समा **भार्या ऊढा न वा** । ।।२८।।

व्याख्यार्थ—जब गुरुदक्षिणा दे समावर्त्तन संस्कार कर घर लौटे, तब ही विद्या का पठन पूर्ण हो गया, उसके बाद, तुमने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण किया अथवा विवाह किया ? इसके लिए पूछते हैं, कि, हे ब्रह्मन् ! इस सम्बोधन से विद्या की सिद्धि हुई यह सूचित करते हैं ।

'गुरुकुलात्' पद का भावार्थ बताते हैं, कि गुरुकुल में स्थिति करने से अदृष्ट के लिए भी ब्रह्मचर्य होता है, केवल गुरु पद न देकर गुरुकुल कहा, इसलिए 'कुल' पद कहने का आशय स्पष्ट करते हैं, कि गुरुजी आश्रम में नहीं बाहर गए हों तो, उस समय भी, उनकी (गुरु की) पत्नी, पुत्र वा गोत्र वाले ब्रह्मचर्य पालन कराते हैं, 'गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया, अर्थात् गुरुजी को दक्षिणा देकर, उनकी आज्ञा से ब्रह्मचारी स्नान करे' स्नान का आशय है समावर्तन संस्कार, यह संस्कार गुरु को दक्षिणा देने के बाद होता है' उसके पश्चात क्या करे ? 'चतुर्थं मायुषोभागमुषित्वाद्यं गुरौ-द्विजः द्वितीयमायुषोभागं कृतदारो गृहे वसेत्' इस वचनानुसार द्विज आयु का पहला चौथा भाग गुरु के पास ब्रह्मचर्य रह विद्याभ्यास करे, उसके बाद समावर्त्तन कर दूसरा चौथा भाग गृहस्थाश्रम पालन करे अतः हे धर्मज्ञ ! धर्म के रहस्य को जानने वाले, बताइए कि आपने सर्व प्रकार अपने योग्य भार्या से विवाह किया वा नहीं ।। २८ ॥

आभास—ऊढेति तस्य भावं स्वीकृत्य रागविद्वेषयोर्विवाह इति निन्दायां प्राप्तायां तन्निषेधार्थमाह **प्रायो गृहेष्विति** ।

आभासार्थ—'ऊढा' इस पद का भाव स्वीकार कर कहते हैं, कि राग और उससे विशेष द्वेष वाले इन दोनों का विवाह ? इस प्रकार विवाह की निन्दा प्राप्त होने पर उसके निषेध के लिए 'प्रायो गृहेषु' श्लोक में करते हैं कि—

श्लोक—**प्रायो गृहेषु ते चित्तमकामविहतं तथा ।**
नैवातिप्रीयते विद्वन्धनेषु विदितं हि मे ।।२९।।

श्लोकार्थ—हे विद्वान ! मैं अनुमान से समझता हूँ कि, घर में भी बहुत करके आपका चित्त विषयों में, लम्पट नही होता होगा, धन आदि में भी अधिक रुचि न होगी, विद्वानों को ऐसा ही होना चाहिए ।।२९।।

सुबोधिनी—**ते चित्तं गृहेषु कामविहतं** प्रायेण न भवति । अन्यथा कथं परिग्रह इति विशेषमाह **तथे**ति । यथा लोकानां तथा कामैर्न हतमित्यर्थः। अत एव **गृहेषु नैवातिप्रीयते** अतिप्रीतियुक्तं चित्तं न भवति । तत्र हेतुं संबोधनेनाह **हे विद्वन्निति** । ज्ञानोदयाच्छरीराध्यासाभावात् तत्प्रीतिकरे गृहे न प्रीतिः । ननु धनाभावादपि गृहे पुरुषो न प्रीयते 'अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च, इति वाक्यात्तत्राह **धनेष्विति** । तव चित्तं नानाप्रकारधनेष्वपि न प्रीयते गोभूहिरण्यादिभेदेन धनं बहुविधं तथा गृहा अपि **स्त्री**भेदेन विलासभेदेन च । अत्र प्रमाणमाह **विदितं हि म** इति । युक्तश्चायमर्थः । यो हि महापुरुषः स एतादृश एव भवेदिति ।।२९।।

व्याख्यार्थ—अधिकतर तुम्हारा चित्त गृहों में कामनाओं से दबा हुआ नहीं है, अन्यथा परिग्रह कैसे ? इसलिए विशेष कहते हैं, कि जैसे लोगों का चित्त कामनाओं से दबा है, वैसे तुम्हारा नहीं है, इस कारण से ही, तुम्हारा चित्त गृहों में विशेष प्रीति वाला नहीं है, क्योंकि, तुम विद्वान हो इसलिए ही, 'विद्वन्' यह संबोधन दिया है, ज्ञान के उदय हो जाने से शरीर से अध्यास (एक का गुण या दोष दूसरे में बता देना) छूट जाता है, अध्यास के कारण, प्रीति कर गृह में तुम्हारी प्रीति नहीं होती हैं, क्योंकि ज्ञानी होने से तुम में अध्यास का अभाव है । ज्ञान के सिवाय धनाभाव से भी पुरुष का गृह में प्रेम नहीं होता है । जैसे कि कहा है 'अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च' धनहीन और मरे हुए में कोई भेद नहीं है, अर्थात्, दुनियाँ में दरिद्र भी मरे के समान समझा जाता है । 'धनेषु' बहुवचन का आशय है कि धन अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे कि गौ, पृथ्वी और सुवर्ण आदि, वै 'गृहा' बहुवचन इसलिए कहा है, कि, स्त्री भेद तथा विलास भेद से अनेक हैं, इसमें प्रमाण देते हैं कि 'विदितंहि में' मैंने जान लिया है यों, यह अर्थ उचित है, जो महान् पुरुष होता है वह इसी प्रकार का ही होता है ।। २९ ।।

आभास—ननु विरक्तस्य संन्यास एवाधिकारः 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इति श्रुतेः । अतः कथं विवाह इति चेत्तत्राह **केचित्कुर्वन्ति कर्माणीति** ।

आभासार्थ—जो विरक्त है, उसे तो सन्यास का अधिकार है, जैसे कि कहा है, यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' जिसको जिस दिन संसार से वैराग्य होवे, वह उसी दिन सन्यासी हो जावे, अतः कैसे विवाह ? यदि यों कहते हो तो 'केचित्कुर्वन्ति' श्लोक में उत्तर देते हैं—

श्लोक—केचित्कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः ।
त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसंग्रहम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—कामनाओं से जिनका चित्त हट गया है, वैसे कितने ही पुरुष, दैवी प्रकृतियों को छोड़कर, लोक संग्रह के लिए मेरी तरह अनासक्त हो कर्म करते हैं ।३०।

सुबोधिनी—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इति । 'इन्धानास्त्वा शतं हिमाः' इति च श्रुतेः । यावज्जीवं कर्म कर्तव्यं अत एव अग्निहोत्रादौ यावज्जीवाधिकारः । तत्र विरक्ताविरक्तभेदेन परित्यागकर्मणां व्यवस्थां मन्यमानान् प्रति भगवान् प्रकारान्तरेण व्यवस्थामाह । एके तु यथा त्वयोक्तास्तथैव व्यवस्थापयन्ति । **केचित्तु कामैरहतचेतसोऽपि** निष्कामा अपि **कर्माण्येव कुर्वन्ति** । ननु कषायपक्तिः कर्माणीति कर्मणां न साक्षात्पुरुषार्थसाधकत्वम् । किन्त्वन्तःकरणशोधकत्वमेव । 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येस्य हृदि श्रिताः' इति कामाभावे मोक्षः संनिहित इति कर्मणां क्वोपयोग इति चेत्तत्राह **त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीरिति** । स्वभावविजयार्थं कर्मणां करणं, स्वभावो हि दुर्जयः । अत एव भगवानाह 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' इति । ताश्च प्रकृतयः स्वभावरूपाः देशकालबीजयोन्यादिभेदेनानेकविधा भवन्ति । ताश्चेत्पुरुषं त्यजन्ति तदा मूलप्रकृतिमपि त्यक्त्वा स्वस्थो भवति । तदभावे कामोऽप्रयोजकः कामाभावेऽपि संसारस्य निरूपितत्वात् । ननु ताः प्रकारेणैव जेतव्याः । तत्र कर्मणां किं प्रयोजनं तत्राह **दैवीरिति** । ता देवतारूपाः अतो वैदिककर्मभिरेव तासां निवृत्तिरिति कर्मकरणम् । ननु कषायपाकार्थमेव कर्मणां विनियोगः श्रूयते स्वर्गाद्यर्थं वा । न तु स्वभावजयार्थं ततश्च केवलयुक्त्या तदर्थं कर्मकरणमिति चेत् तत्राह **यथाहं लोकसंग्रहमिति** । अहं च कर्माणि करोमि लोकसंग्रहार्थं तत्र युक्तिरेव मूलं 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते' इति न चैवं क्वचिदपि वाक्यमस्ति लोकसंग्रहार्थमीश्वरेण कर्तव्यानीति । तस्मात्फलनिर्णयः युक्त्यापि भवतीत्यर्थः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—'कुर्वन्नेवेह[1] कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इति 'इन्धानास्त्वा शतं हिमाः' इन श्रुतियों के अनुसार जब तक जीवित हो, तब तक कर्म करता ही रहे, इस कारण से ही, जीवन पर्यन्त अग्नि होत्र करने की आज्ञा है उसमें, विरक्त और अविरक्त पुरुषों के भेद से, कर्मों के परित्याग की व्यवस्था मानने वालों को, भगवान् अन्य प्रकार से व्यवस्था बताते हैं ।

१– कितने तो जैसे तुमने कहा वैसे ही व्यवस्था करते हैं ।
२– कोई निष्काम होते हुए भी कर्म करते हैं ।

१– इस लोक में कर्म करते हुए शतवर्ष जीना चाहे,

३– तीसरे कहते हैं, कि 'कषायपक्तिः कर्माणि' वाक्य से कर्म साक्षात् पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाले नहीं है, किन्तु केवल अन्तःकरण की शुद्धि करते हैं जैसा कि कहा है 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा–येऽस्य हृदिश्रिताः' अर्थात् जो कामनाएँ इसके हृदय में स्थित हैं वे सब, जब छोड़ी जाती हैं, तब मोक्ष रूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है, इसलिए कर्मों का उपयोग कहा है ? इस पर कहते हैं, कि 'त्यजन्तः प्रकृती दैवीः' स्वभाव को जीतने के लिए कर्मो को करना चाहिए, किन्तु स्वभाव को जीतना दुर्लभ है, अतएव भगवान् कहते हैं, कि 'प्रकृतिंयान्ति भूतानि निग्रह किं करिष्यति' भूतमात्र प्रकृति के अनुसार कर्म करते हैं उसके रोकने से क्या होगा ? वे स्वभावरूप प्रकृतियाँ देश, काल, बीज और योनि आदि भेद से अनेक प्रकार की हैं, वे यदि पुरुष को छोड़ती हैं तब पुरुष मूल प्रकृति को भी छोड़कर स्वस्थ होता है । यदि वह नहीं है, तो काम अप्रयोजक है, क्योंकि, काम के अभाव होते हुए भी संसार का निरूपण होने से, वे प्रकार से ही जीतने योग्य हैं ? उसमें कर्मो का क्या प्रयोजन हैं ? इस पर कहते हैं कि वे प्रकृतियां देवता रूप है, उनकी निवृत्ति वैदिक कर्मो के करने से ही होती है, इसलिए कर्म करने चाहिए, कषायों + के पाक के लिए ही कर्म विनियोग कहा है यों सुना जाता है अथवा स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिए कर्म करने चाहिए, न कि स्वभाव को जीतने के लिए इस कारण से केवल युक्ति से उसके लिए करना चाहिए यदि यों कहते हो तो कहते हैं,'यथाहं लोक संग्रहम्' जैसे मैं लोक संग्रह के लिए कर्म करता हूँ, उसमें युक्ति ही मूल है, वह युक्ति है कि 'मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते' मेरे बताए हुए मार्ग पर सत्पुरुष चलते हैं । यह वाक्य कहीं भी नहीं है, कि ईश्वर को कर्म करने चाहिए, इसी कारण से फल का निर्णय, युक्ति से भी होता है, यों अर्थ है ॥ ३० ॥

आभास––एवं स्वतो ज्ञातमप्यर्थं प्रश्नव्याजेन विरक्ततया गृहाश्रमे तिष्ठतीति कृतमुक्त्वा तथा करणस्य प्रयोजनं स्वभावाद्वासनया केवलं कृतवानिति श्रुतेपि दोषे 'नानुभूय न जानाति जनो विषयतीक्ष्णताम्' इति मनःप्रत्ययजननार्थं विवाहं कृतवान् । यत इच्छा निवर्तते तत इच्छायामपि निवृत्तायां गले पतिता भार्येति उपहसन्निव कृतमभिनन्द्य तेन सह सख्यं स्मारयितुं गुरुकुलवासं बोधयति **कच्चिद्गुरुकुले वास**मिति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार विषय को जानते हुए भी, प्रश्न के मिष से विरक्त भाव से, गृहाश्रम में रहता है, यों उसका कृत्यकर्म कहकर, यों करने का प्रयोजन कहते हैं, दोषों को सुनकर स्वभाव से वा केवल वासना से गृहस्थ किया है, कारण कि, 'नानुभूयन जानाति जनो विषयतीक्ष्णताम्' मनुष्य अनुभव किए बिना विषयों की तीक्ष्णता को पहचान नहीं सकता हैं, इसलिए मन को विषयों में तीक्ष्णता है ऐसा विश्वास दिलाने के लिए ही विवाह किया है, जिससे फिर इच्छा कामना निवृत्त हो जाती है, इच्छा तो निवृत्त हो गई, किन्तु भार्या गले में पड़ गई ऐसे हास्य करते हुए, जो किया उसका अभिनन्दन कर, उसके साथ मित्रता का स्मरण कराने के लिए निम्न श्लोक कहने लगे—

+ यो वक्त्रं परिशोषयति, जिह्वां स्तंभयति, कण्ठं बाध्नाति, हृदयं कषति पीडयति

श्लोक—**कच्चिद्गुरुकुले वासं ब्रह्मन्स्मरसि नौ यतः ।**
द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते ॥३१॥
स वै सत्कर्मणां साक्षाद् द्विजातेरिह संभवः ।
आद्योऽयं यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः ॥३२॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! हम दोनों गुरुकुल में साथ रहते थे, यह तुमको याद है ? द्विज गुरुकुल में निवास कर जो जानने के योग्य वस्तु है, उसको जानकर, अज्ञान को पार कर जाता है ॥३१॥

मनुष्य के इस जगत् में तीन गुरु हैं—एक गुरु जन्म देने वाला पिता है उपनयन संस्कार कराके जिस विद्या से सत्कर्म हो सके उस विद्या को पढ़ाने वाला दूसरा गुरु है, तीसरा गुरु वह है जो ब्रह्म विद्या का दान देता है, जिस तरह मैं सबको ज्ञान देने वाला गुरु हूँ, गुरु की भक्ति का पर्यवसान (अन्त) अनुभव में होने से स्वतुल्यता (अपने बराबर) है । अतः सर्व पूज्य हूँ ॥३२॥

सुबोधिनी—आदौ गुरुकुलवासस्य प्रशंसा निरूप्यते । सफलत्वेन महत्त्वे स्मरणं भवति । **ब्रह्मन्निति** संबोधनं तत्प्रसादादेव जातमिति बोधयति । **नौ** आवयोः **गुरुकुले वासं** किं **स्मरसि** । अनेन बाह्याभ्यन्तरभेदेन यत्किंचिदनुभूतं गुरुकुले तत्स्मरणेन कृतार्थता भवतीति ज्ञापितम् । गुरुकुलस्य प्रतिष्ठामाह **द्विजो विज्ञाय विज्ञेयमिति** । विज्ञेयमात्मानं प्रमाणं च विज्ञाय ज्ञात्वा, **तमसः परं** भगवन्तमश्नुते । 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इति श्रुतेः । किंच गुरुकुलवासो द्विजन्मनां द्वितीयं जन्म तच्च **साक्षात्कर्मणां** संबन्धि सम्यक् भवो यत्रेति । तत एव कर्मण्युत्पद्यन्ते । 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' इति श्रुतेः । किंच । **यत्राश्रमिणामाद्यो** भवति गुरुकुले स्थितो ब्रह्मचारी भवति, आश्रमाः पुरुषार्थसाधकाः तेषामाद्योऽयं तदभावे कोप्याश्रमो न भवेदिति । साधनसाधकत्वेन गुरोरुपयोगमुक्त्वा साक्षाज्ज्ञानसाधकत्वेन पुरुषार्थोपयोगित्वमाह **यथाहं ज्ञानदो गुरुरिति** । गुरोः भक्तेरनभवपर्यवसायित्वात् स्वतुल्यता ॥३१-३२॥

व्याख्यार्थ—प्रथम गुरुकुल में निवास की बडाई का निरूपण करते हैं, वहां रहकर सफलता प्राप्त होने से महानता प्राप्त होती है, जिससे उसका सदैव स्मरण रहता है । हे ब्रह्मन् ! यह संबोधन देकर बताते हैं, कि ऐसी योग्यता तुम्हें गुरुकुल के निवास के प्रसाद से हुई है । हम दोनों गुरुकुल में निवास करते थे वह याद है ? यों कहने से यह बताया है, कि, बाहर और भीतर के भेद से जो कुछ भी गुरुकुल में अनुभव प्राप्त किया, उसके स्मरण करने से कृतार्थता होती है । गुरुकुल की बड़ाई कहते हैं,—वहां रहकर द्विज. जानने योग्य आत्मा को और प्रमाण को जानकर तम (अज्ञान) से परे जो सद्वस्तु (भगवान्) हैं उसका आनन्द लेता है, जैसा कि भगवती श्रुति कहती है 'आदित्य वर्ण तमसः परस्तात्' तम से परे आदित्य वर्ण वाले को और विशेष गुरुकुल में निवास, द्विजातियों का

दूसरा जन्म है, वह जन्म साक्षात् कर्मों का सम्बन्धी है । जहां जन्म श्रेष्ठ हो जाता है, वहां से कर्म उत्पन्न होते हैं, अर्थात् वैदिक कर्म करने का अधिकार प्राप्त होता है । श्रुति कहती है, ब्राह्मण जन्मते ही तीन प्रकार ऋणी होता है, किञ्च आश्रमियों में आद्य आश्रमी गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचारी होता है, आश्रम ही पुरुषार्थों के साधक हैं, उनमें से पहला यह है, यदि यह सिद्ध न हुआ, तो दूसरा कोई भी गृहस्थादि आश्रम सिद्ध न होगा साधन और साधकपन से गुरु का उपयोग कह कर, साक्षात्, ज्ञान साधकपन से पुरुषार्थ के उपयोगीपन कहते हैं कि 'यथा हं ज्ञान दो गुरुः' जिस तरह मैं ज्ञान देने वाला गुरु हूँ ? भक्ति अनुभव की पराकाष्ठा होने से गुरु की अपने से समानता कही है ॥ ३२ ॥

आभास—ननूभयोः कथं कारणत्वमनुगमादित्याशङ्क्याह **नन्वर्थकोविदा** इति ।

आभासार्थ—दोनों का कारणपन कैसे होगा ? इस शङ्का के उत्तर में नन्वर्थ श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन् वर्णाश्रमवतामिह ।**
ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! इस मनुष्य जन्म में वर्णाश्रम पालन करने वाले पुरुषों में से वही उत्तम हैं अर्थात् तत्त्व को जानने वाले हैं, जो मेरे ही रूप गुरु की वाणी से इस संसार रूप सागर को शीघ्र तर जाते हैं ॥३३॥

सुबोधिनी—**अर्थे** पुरुषार्थे ये **कोविदाः** पण्डिताः शीघ्रं पुरुषार्थसिद्धिर्भवत्विति विचारयन्ति ते तथैव । **ये मया गुरुणा वाचा** वाङ्मात्रेणैव **अञ्जः** अनायासेन **भवार्णवं तरन्ति** तरिष्याम इति निश्चित्य गुरुमेव भजन्ते त एव **अर्थकोविदा** इत्यर्थः । **ब्रह्मन्निति** संबोधनं संमत्यर्थम् । साधनान्तरव्युदासार्थमाह **वर्णाश्रमवतामिहेति** । अनेन वर्णधर्मा आश्रमधर्माश्च न साधका इत्युक्तं भवति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—पुरुषार्थ की सिद्धि शीघ्र होवे, ऐसा जो विचारते हैं, वे ही पुरुषार्थ सिद्ध करने में पण्डित हैं । जो मेरे ही रूप गुरु की वाणी से अर्थात् उपदेश से, बिना श्रम के हम शीघ्र पार पहुंचेंगे, यों निश्चय करके गुरु की ही सेवा करते हैं, वे ही पुरुषार्थ सिद्ध करने में पण्डित हैं, हे ब्रह्मन् ! यह संबोधन संमति के लिए है, दूसरा कोई साधन नहीं है यह बताने के लिए कहा है, कि वर्ण धर्म और आश्रम धर्म पुरुषार्थ के साधक नहीं हैं ॥ ३३ ॥

आभास—एवं प्रसङ्गात् ये केचन संसारतरणोपायाः गुरुसेवातिरिक्ताः तान् निषेद्धुं गार्हस्थ्यवानप्रस्थसंन्यासानां मुख्यधर्माणां मत्प्रीतिहेतुत्वं नास्तीत्याह **नाहमिज्याप्रजातिभ्यामिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार जो कोई बिना गुरु सेवा के संसार तरण के उपाय समझे जाते हैं, वे

उपाय वास्तविक नहीं हैं, अतः उनके निषेध करने के लिए कहते हैं, कि गार्हस्थ्य वानप्रस्थ अथवा सन्यास ये जो मुख्य धर्म माने जाते हैं वे मेरे प्रीति के हेतु नहीं है, यह निम्न श्लोक में स्पष्ट कहते हैं—

श्लोक—**नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।**
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ।।३४।।

श्लोकार्थ—सर्वभूतों की आत्मा, मैं, जैसा गुरु सेवा से प्रसन्न होता हूँ, वैसा यज्ञ, संतति उत्पन्न करने, तपसे और संन्यासी हो जाने से सन्तुष्ट नहीं होता हूँ ।।३४।।

सुबोधिनी—**इज्या** यागः, **प्रजातिः** संततिः, उभयं गार्हस्थ्यधर्मः ऋणापाकरणरूपः । **तपः** वनस्थस्य, **उपशमः** परमहंसस्य । एवं त्रिभिरपि **अहं न तुष्येयम्** । तत्र हेतुः **सर्वभूतात्मेति** । सर्वभूतेषु आत्मा यस्य । यागेन जीवानां नाशः, प्रजात्या उत्पत्तिः, तेनोत्पत्तिप्रलयौ कुर्वन्मम संतोषं न जनयति । उत्पादनेनापि जीवः क्लिष्टो भवतीति । **तपसा** शरीरक्लेशः । **उपशमेन** देहेन्द्रियादीनामतःक्लेशकरत्वान्मम न संतोषः । गुरुशुश्रूषायां तु स्नेहसेवया सेवकस्यानन्दः गुरोश्चेति । अतोऽहं तुष्येयम् । वेदाध्ययनस्यैव ऋणापाकरणरूपत्वात्सेवा अधिकैव । यद्यप्यङ्गभावेनैव सेवाया विनियोगः तथापि भक्त्या कृतः मत्प्रीतिहेतुरपि भवति संयोगपृथक्त्वन्यायेन ।३४।

व्याख्यार्थ—'इज्या' यज्ञ 'प्रजातिः' सन्तान, ये दोनों ऋण उतारने के लिए हैं । गार्हस्थ्य धर्म के अङ्ग हैं, वानप्रस्थ तपरूप है, इन्द्रियों का दमन सन्यास धर्म है । इन तीनों से मैं प्रसन्न नहीं होता हूं, कारण कि सर्वभूतों में मेरी आत्मा है । यज्ञ से जीवों का नाश होता है । सन्तान की उत्पत्ति, इससे भी मुझे हर्ष नहीं हैं, क्योंकि उत्पत्ति और प्रलय करते हुए मुझे सन्तोष पैदा नहीं करते हैं । उसमें कारण यह है, कि उत्पादन से जीव को क्लेश होता है, तपस्या से शरीर को क्लेश होता है दमन से देह इन्द्रियादिकों को क्लेश होता है अतः मुझे उससे भी संतोष नहीं है । गुरु की सेवा तो प्रेम से होती है, जिससे सेवक और गुरु दोनों को आनन्द प्राप्त होता है, अतः मैं उससे प्रसन्न होता हूँ । वेदों का अध्ययन, ऋषि-ऋण उतारने के लिए है इसलिए सेवा अधिक ही है, यद्यपि उनका भी सेवा के अङ्ग रूप से ही विनियोग है, तो भी प्रेम से किया हुआ ही संयोग पृथक्त्व न्याय से मेरी प्रीति का भी हेतु होता है ।।३४।।

आभास—एवं गुरुकुलावासं स्तुत्वा तं स्मारयित्वा आवयोर्वासः सेवार्थं परमक्लेशं संपादितवानिति सेवाविशेषं स्मारयति **अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन्निति** नवभिः ।

आभासार्थ—इसी तरह गुरुकुल निवास की स्तुति कर, उसकी याद दिलाके वहां अपना निवास सेवार्थ परम क्लेशवाला हुआ था,यों विशेष सेवा का स्मरण निम्न श्लोक से कराते हैं—

श्लोक—**अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ ।**
गुरुदारैः प्रेरितानामिन्धनानयने क्वचित् ।।३५।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! हम लोग जब गुरु के पास रहते थे, तब गुरु की स्त्री ने हमको लकड़ी लाने के लिए वन में भेजा था, वहाँ जो कुछ हुआ क्या वह आपको याद है ? ।।३५।।

सुबोधिनी—त्रिगुणकार्यमेतदिति नोऽस्माकं संबन्धि वक्ष्यमाणं **स्मर्यते** । अपीति संभावनायाम् । **ब्रह्मन्नित्यनसूयार्थम्** । **गुरौ निवसतां** व्रतस्थानां गुरुवाक्यवत् गुरुपुत्रगुरुपत्नीवाक्यमपि कर्तव्यमिति । अत एव **गुरुदारैः प्रेरितानामिन्धनानयने** अरण्यादिन्धनमानीयतामिति । **क्वचित्** कदाचिद्विषमसमये ।।३५।।

व्याख्यार्थ—यह त्रिगुण का कार्य है, यों जो, मैं कहने वाला हूं वह अपने से सम्बन्ध रखने वाला कार्य है । क्या उसका स्मरण है ? 'अपि' शब्द संभावना के अर्थ में दिया है, हे ब्रह्मन् ! यह पद असूया के अभाव में कहा है, अर्थात् आप में ईर्ष्या नहीं है, गुरु के पास रहने वाले ब्रह्मचर्य व्रत करने वालों को गुरु की आज्ञा समान, गुरुपत्नी और गुरुपुत्र की आज्ञा माननी चाहिए, अतएव गुरुपत्नी ने आज्ञा दी, कि वन से लकड़ियाँ ले आओ, 'क्वचित्' पद का तात्पर्य है कि कदाचित् वह समय विषम (भीषण) था ।। ३५ ।।

श्लोक—**प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद्द्विज ।**
वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः ।।३६।।

श्लोकार्थ—हे द्विज ! लकड़ी लेने के लिए हम वन में घुसे, उस समय वर्षा ऋतु भी नहीं थी, किन्तु तीव्र वायु के साथ वर्षा होने लगी और बड़ी गर्जना होने लगी ।।३६।।

सुबोधिनी—ततः उत्कृष्टेन्धनार्थं **महारण्यं प्रविष्टानां अपर्तौ** वर्षातिरिक्तकाले शिशिरे । **द्विजेति** संबोधनं जन्मभूमिः सेति ज्ञापनार्थम् । **सुमहद्वातवर्षमभूत् निष्ठुराश्च स्तनयित्नवः** गर्जितानि । नैष्ठुर्यं कर्णासह्यत्वम् ।।३६।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् तोड़कर लकड़ी लाने के लिए गहन बन में हम घुसे, वहां उस समय, शिशिर ऋतु थी, तो भी जबर्दस्त वायु के साथ भारी वर्षा होने लगी और निठुर बादल गर्जने लगे, निठुर का भावार्थ है कि उनकी ध्वनि कर्णों को असह्य थी, हे द्विज ! यह संबोधन, यह जन्मभूमि है इसका ज्ञान कराने के लिए दिया है ।। ३६ है

श्लोक—**सूर्यश्चास्तंगतस्तावत्तमसा चावृता दिशः ।**
निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किंचन ।।३७।।

श्लोकार्थ—इतने में सूर्य अस्त हो गया, दिशा अन्धकार से पूर्ण हो गई, नदी के

किनारे तक जल भर गया, कुछ भी जान नहीं सकते थे कि नदी है या पृथ्वी है ।।३७।।

सुबोधिनी—एतस्मिन्नन्तरे **सूर्यश्चास्तंगतः तमसा दिशश्चावृताः** । तथापि कथं नागतमित्याकाङ्क्षायामाह **निम्नं कूलं जलमयमिति** । नद्याः कूलं सर्वमेव जलमयं, कियती नदी कियती भूमिरिति ज्ञातुमशक्यम् । ततः क्षिप्रोत्तरणार्थं **न प्राज्ञायत** कमप्युपायं न ज्ञातवन्तः ।।३७।।

व्याख्यार्थ—इतने में ही सूर्य अस्त हो गया, दिशाओं में अन्धेरा छा गया तो भी आये क्यों नहीं ? जिसका उत्तर है कि नदी का किनारा जलमय हो गया, अर्थात् भूमि और नदी सब एक हो गई, जल ही जल चारों तरफ सर्वत्र दीख पड़ता, भूमि कहां है नदी कहां है जान नहीं पड़ता था, क्षिप्रा को पार करने का कोई उपाय न रहा ।। ३७ ।।

आभास—ततस्तत्परपार एव रात्रौ स्थिता इति क्लेशस्थितिं स्मारयति **वयं भृशमिति** ।

आभासार्थ—इस कारण रात्रि को नदी के दूसरे (परले) पार ही रहे, इस प्रकार हुई क्लेश की स्थिति की याद 'वयं भृशं' श्लोक में दिलाते हैं—

श्लोक—**वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभिर्निहन्यमाना मुहुरम्बुसंप्लवे ।**
दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ।।३८।।

श्लोकार्थ—वहाँ तेज पवन और वर्षा से हम तीनों पीड़ित हुए थे, दिशाओं का पता न पड़ता था, बैठने का कोई स्थान नहीं रहा, तब आतुर हो, भूल न जाए, इसलिए परस्पर हाथ पकड़ फिर रहे थे ।।३८।।

सुबोधिनी—**वयं** त्रयोपि तत्रैवारण्यप्रदेशे अत्यन्तं **महानिलाम्बुभिः** नितरां **हन्यमानाः** । उपवेशनार्थमपि भूमिर्नास्तीत्याह **अम्बुसंप्लव** इति । ततो **दिशोऽप्यविदन्तः** एवं जाते किं कर्तव्यमिति विचार्य । **अथ** भिन्नप्रक्रमेण अतः परं गमनार्थं प्रयत्नो न कर्तव्यः किंतु कालक्षेप एवेति विचार्य अन्योन्यविश्लेषाभावाय **गृहीतहस्ताः** सन्तस्तस्मिन्वने **आतुरा** दीनाः क्षुधिताः सन्तः **परिबभ्रिम** इतस्ततो भ्रमणमेव कृतवन्तः ।३८।

व्याख्यार्थ—हम तीनों (हम दोनों और बलरामजी) ही उसी जंगल के प्रदेश में तेज वायु और वर्षा से पीड़ित हो रहे थे, बैठने के लिये कोई भूमि नहीं थी, सर्वत्र जल ही जल पड़ा था, दिशाओं को भी पहचान नहीं सकते थे ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए यह विचार कर, निश्चय किया कि कहीं भी जाने का यत्न नहीं करना चाहिए, किन्तु कैसे ही समय बिताना चाहिए, आपस में साथ ही रहे अलग २ न हो जावें इसलिए एक दूसरे के हाथ पकड़ लिए बाद में उसी ही वन में, दीन और भूखे होते हुए भी, यहां वहां चक्कर ही काटने लगे अर्थात् फिरने लगे ।। ३८ ।।

आभास—तर्हि निर्दयो गुरुः कथं तत्र वासः कृत चेत्तत्राह **एतद्विदित्वेति** ।

आभासार्थ—तुम्हारी वहां ऐसी दशा हुई इससे जाना जाता है, कि 'गुरु' निर्दयी था, तो ऐसे गुरु के वहां वास कैसे किया ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**एतद्विदित्वाऽनुदिते रवौ सांदीपनिर्गुरुः ।**
अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान् ।।३९।।

श्लोकार्थ—जब गुरु को इस बात का पता लगा, तब सूर्योदय से पहले ही, हम शिष्यों को ढूंढने के लिये निकले, ढूंढते ढूंढते हमें काम्पते हुए देखा ।

सुबोधिनी—गुरोरपि हृदये अयमस्मत्क्लेशो भात एव अत **एवानुदित एव रवौ सांदीपनिर्गुरु-** गृहान्निर्गतः । **नः** अस्मानन्वेषमाण **आतुरान्** वेपमानानपश्यत् ।।३९।।

व्याख्यार्थ—गुरु के हृदय में यह अपना क्लेश प्रकट हुआ ही, जिससे सूर्य के उदय से पूर्व ही सांदीपनि गुरु गृह से निकले, हमको ढूंढते २ आकर काम्पता हुआ देखा ।। ३९ ।।

आभास—ततो दया परमा तस्योत्पन्नेत्याह **अहो** इति ।

आभासार्थ—हमको इस दशा में देख गुरु को दया आई, यह निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**अहो हे पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदुःखिताः ।**
आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ।।४०।।

श्लोकार्थ—अहो ! हे पुत्रों ! मेरे लिए तुमने बहुत दुःख पाया है देहधारियों को सबसे प्रिय निश्चय से आत्मा है, उसका भी अनादर कर मेरी सेवा में लगे रहे ।४०।

सुबोधिनी—एतदर्थमेव भगवतैवं संपादितम् विद्या हि वैधन्यायेन गुरौ स्थिता अतिमथनात्प्रादुर्भुता शिष्ये समायाति । तत्र मथनस्थानीया परमा दया । **अहो** इत्याश्चर्यम् । **हे पुत्रका** इति दयया जातस्नेहात्संबोधनम् । **पुत्रकाः** पुत्रप्रायाः । अनेन भवतामेव गृहमिति स्वार्थमेवैतत् क्रियत इत्याश्वासनमप्युक्तम् । तेषां दुःखं निरुक्तं गच्छतीत्यनुवदति **अस्मदर्थेऽतिदुःखिता** इति । ननु व्रतं क्रियते कथं दुःखमिति चेत् तत्राह **आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठ** इति । 'द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीयः' इति न्यायेन शरीरव्रतयोर्विरोधे शरीरमेवादरणीयम् । तत्रापि स्नेह पात्रं विधिस्नेहयोः स्नेहो बलिष्ठ इति । एवं वैदिकलौकिकन्यायोल्लङ्घनमपि कृत्वा यतो **मत्परा** जाताः । तदाह **आत्मा** देहः **प्राणिनामति प्रेष्ठः तमनादृत्य मत्परा** जाता इति ।।४०।।

व्याख्यार्थ—इसलिए ही, भगवान् ने ही यों किया है, क्योंकि विद्या "वैधन्याय" से गुरु में स्थित रहती है। वह अतिशय मथन करने से प्रकट होकर शिष्य में आती है। वहां मथन स्थानीया यह परम दया है, अर्थात् हमने जो इतना दुःख गुरु के कार्य के लिए सहन किया है, उसने गुरु के हृदय का मथन किया है, जिससे गुरु को हमारे लिए दया उत्पन्न हुई है। हे पुत्रकाः ! यह संबोधन, दया से उत्पन्न स्नेह के कारण दिया है, 'पुत्रकाः' यह पद पुत्र से समानता प्रकट करता है। इससे गुरु ने आश्वासन के लिए यों कहा, कि यह आश्रम आपका ही गृह है, अतः तुमने लकड़ी लेते हुए जो दुःख भोगा है, वह अपने स्वार्थ के कारण भोगा है, इसलिए उसकी चिन्ता नहीं करनी, गृह कार्य करते हुए दुःख भोगना ही पड़ता है। फिर गुरुजी उनका दुःख कम हो इसलिए फिर कहते हैं, कि तुम हमारे लिए बहुत दुःखी हुए हो, हम तो अपना व्रत पालते हैं, इसमें दुःख कैसे ? यदि यों कहो तो उसके उत्तर में कहा कि, प्राणियों को आत्मा ही सबसे प्रिय है, 'द्रव्यसंस्कार विरोधे द्रव्यं बलीयः' 'जहां द्रव्य और संस्कार का विरोध आवे, वहां द्रव्य बलवान है' शरीर और व्रत इनमें शरीर द्रव्य है, और व्रत संस्कार है अब यहां व्रत पालने से शरीर को कष्ट होता है, व्रत संस्कार होने से, त्यागकर शरीर की रक्षा करनी चाहिए। उसमें भी शरीर स्नेहपात्र है, व्रत विधि है, विधि और स्नेह में भी स्नेह बलिष्ठ है, तुमने वैदिक लौकिक न्याय का भी उल्लङ्घन कर मेरी सेवा ही की है, देह सबसे प्रिय होते हुए भी उसका अनादर कर मेरी सेवा में लगे रहे, देह की परवाह नहीं की ।।४०।।

आभास—तर्हि विरुद्धाचरणात् कथं भवान् प्रसन्न इत्याशङ्क्याह **इयदेव हीति** ।

आभासार्थ—हमने वैदिक लौकिक न्याय का उल्लङ्घन कर विरुद्ध आचरण किया तो फिर आप कैसे प्रसन्न हुए ? इसका उत्तर 'इयदेव' श्लोक में देते हैं—

श्लोक— **इयदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् ।**
यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मसमर्पणम् ।।४१।।

श्लोकार्थ - जिस देह से, सर्व पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं वह प्रिय देह और अर्थ, शुद्ध भाव से गुरु को अर्पण कर गुरु के प्रति उपकार करना, यह ही सत् शिष्यों का कर्त्तव्य है ।।४१।।

सुबोधिनी—**सच्छिष्यैरलौकिकैः इयदेतावदेव । गुरुनिष्कृतं** गुरोः प्रत्युपकारः । तदाह **यद्वि-शुद्धभावेन सर्वस्यार्थस्य आत्मनश्च समर्पणम् । वै** निश्चयेन ।।४१।।

व्याख्यार्थ—सत् शिष्य अर्थात् अलौकिक शिष्यों को इतना ही करना चाहिए कि विशुद्ध भाव से समस्त पुरुषार्थ और आत्मा को निश्चय पूर्वक गुरुचरणों में समर्पण करना यह ही गुरु के प्रति उपकार है ।।४१।।

श्लोक—**तुष्टोहं हे द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः ।**
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ।।४२।।

श्लोकार्थ—हे द्विज श्रेष्ठों ! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ इस लोक तथा परलोक में तुम्हारे मनोरथ सफल होवें और जो वेद पढ़े हैं वे भी निष्फल कभी भी न होवें ।।४२।।

सुबोधिनी—न तु केनचित् व्याजेन तद्वद्भिः कृतमित्यहं तुष्टः यावच्छक्यं निष्कपटतया कृतमिति । संबोधनेनैव तोषफलमाह हे द्विजश्रेष्ठा इति । श्रैष्ठ्यं भवतु व्रतस्य सर्वोत्कर्षः संपद्यतामित्यर्थः । यदर्थं च व्रतं कृतं तद्दानमाह सत्याः सन्तु मनोरथा इति । पठितानां विद्यानां च अयातयामत्वमाह छन्दांस्ययातयामानीति ।

व्याख्यार्थ—तुमने यह जो सेवा की है, वह जितना बन सका उतनी सेवा की, किसी भी बहाने वा कपट से नहीं की है, इसलिये मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हुं, हे द्विजश्रेष्ठ ! संबोधन देकर अपनी प्रसन्नता का फल कहते हैं, इस व्रत के पूर्ण करने से तुम्हारा सर्व प्रकार श्रेष्ठ उत्कर्ष सिद्ध होगा, जिसके लिये व्रत पालन किया, उसका दान देते हैं कि तुम्हारे मनोरथ पूर्ण हों तथा जो विद्याएँ पढ़ी हैं, वे कभी भी निष्फल न होवें, जिन अवसरों में वेद आदि पढ़ने से वेद विद्या निष्फल हो जाती है। (उसका स्पष्टीकरण आचार्य श्री ने निम्न कारिकाओं में किया है।)

कारिका—**'आम्नायात्तु विनिर्मुक्ता अनध्याये तथा स्मृताः ।**
अयाज्ये योजिताश्चैव निषिद्धाय च पाठिताः ।।
फलार्थं योजिता दृष्टा यातयामा भवन्ति हि ।
अन्यथा ज्ञातरूपाश्च अन्यथार्थप्रबोधिताः ।।
अव्रतैः शूद्रसंकाशैः पातित्याद्याकुले स्थले ।
अधीताः सर्वथैवैते यातयामा भवन्ति हि' ।।

कारिकार्थ—जिन्होंने गुरु परम्परागत उपदेश छोड़ दिया है, अनध्याय के दिनों में पढ़ा है, यज्ञ कराने के योग्य नहीं उनको यज्ञ कराया है, जिन शूद्रादि को न पढ़ाना चाहिये उनको पढ़ाया है, फल[1] के लिये ही वेदों को देखा है, वेदों का जो ज्ञान रूप है उसको अन्यथा समझा है, अर्थ भी असत्य से समझाये हैं, नियम रहित शूद्र के समीप, जहाँ पतित आदि रहते हैं वैसे स्थल में पढ़ा है, उनका वेद पढ़ना निष्फल हो जाता है ।।१-२-३।।

१—पैसा कमाने के लिए वेद पाठ किया है

सुबोधनी—तेष्वपि समयेषु मत्प्रसादादयातयामा। भवन्त्विति वरः। इह परत्रेति परलोकार्थमिहलोकार्थं च स्वार्थं स्थापिताः परलोकार्थं भवन्ति। विनियुक्तास्त्वैहिकफलाः। भवतां तूभयत्रापि फलसाधका भवन्त्वित्यर्थः। चकारात्सर्वकर्मस्वपि ॥४२॥

मैं वर देता हूं कि तुम यदि ऐसे अवसरों पर पढ़ोगे तो भी तुम्हारी विद्या निष्फल न होगी, इस लोक में चाहे परलोक में भी यह वेद विद्या स्मरण ही रहेगी। यों तो पढ़ी हुई विद्याएँ इस लोक में फलदायिनी होती हैं, किन्तु तुम्हारी विद्याएँ दोनों लोकों में फलीभूत होगी। 'च' पद से यह बताया है कि यह विद्या सर्व कर्मों में भी सफल होगी ॥४२॥

आभास— इदमेकं फलसाधनरूपं चरित्रमुक्त्वा नैतदेवेत्याह **इत्थंविधान्यनेकानीति**।

आभासार्थ—यह एक फल का साधन रूप चरित्र कहकर अब कहते हैं कि यह एक ही ऐसा चरित्र नहीं है, किन्तु वैसे अनेक चरित्र हैं यह निम्न श्लोक में बताते हैं–

श्लोक—**इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मसु।**
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये ॥४३॥

श्लोकार्थ—गुरु के गृह में रहते हुए वैसी अनेक सेवाएँ की थीं वे तुम्हें याद तो होगी ? शिष्य गुरु की कृपा से ही पूर्ण होता है और शान्ति प्राप्त करता है ॥४३॥

सुबोधिनी– **गुरुवेश्मसु वसतां** भवन्ति। गुरुवासस्य नित्यत्वमाह **गुरोरनुग्रहेणैवेति**। न केवलं वासेन **पुमान् पूर्णो** भवति। सर्वार्थैः प्रशान्त एव भवति। स्वाभाविकाः कामादयः तदुत्पन्नेर्न शान्ता भवन्ति किंतु गुर्वनुग्रहेणैव भगवता कृतस्मरणेन वा। **प्रशान्तये पूर्णः** समर्थः। एवमुपाख्यानः सर्वे पुरुषार्थास्त्वया साधिता न वेति प्रश्नः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—गुरु के गृहों में रहते हुए क्या होता है वह बताते हैं, गुरु के यहां जो निवास किया जाता है, वह नित्य है क्योंकि गुरुजी के अनुग्रह से शिष्य, वहां वास करने से केवल पूर्णता प्राप्त नहीं करता है, किन्तु सर्व प्रकार शान्ति भी प्राप्त करता है, स्वाभाविक जो कामादिक उनसे उत्पन्न इच्छाएँ अन्य प्रकार शान्त नहीं होती हैं किन्तु गुरुजी के अनुग्रह से ही शान्त होती हैं अथवा भगवान् के स्मरण से शान्त होती हैं, यों दोनों से पूर्ण शान्ति के लिये समर्थ होता है, इस प्रकार उपाख्यान कहकर यह प्रश्न किया कि तुमने सर्व पुरुषार्थ सिद्ध किये वा नहीं ? ॥४३॥

आभास—तत्रोत्तरमाह **किमस्माभिर्न निर्वृत्तमिति**।

आभासार्थ—ब्राह्मण, भगवान् के प्रश्न का 'किमस्माभिर्न' श्लोक से उत्तर देता है—

श्लोक—ब्राह्मण उवाच—**किमस्माभिर्न निर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो।**
भवता सत्यकामेन येषां वासोऽभवद्गुरौ ॥४४॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण ने कहा, हे देवदेव ! हे जगत् के गुरु ! सत्यकाम वालों आप के साथ, जिसका गुरुकुल में वास हुआ हो उसको शेष क्या करना रहेगा ? ॥४४॥

सुबोधिनी—को वा पुरुषार्थोऽस्माभिर्नोत्पादितः। परं विशेषोस्तीत्याह **भवता** सह **येषां गुरौ वासोऽभवदित्यर्थः**। गुरुगृहवासानन्तरं तत्प्रासादे च जाते पश्चात्सर्वे पुरुषार्थाः साधयितुं शक्यन्ते। अस्माभिस्तु गुरुकुल एव सर्वपुरुषार्थस्वरूपेण त्वया संगतम्, अतो गुरुकुलवासोऽस्माकमेव सफलो जातः, न त्वन्येषामिति **अस्माभिः किं न निर्वृत्तम**। नापि तत्तन्मन्त्रदेवतानां तृप्तिः प्रयोजिका मृग्यते यतो भवानेव **जगद्गुरुः**। किंच। भवान् **सत्यकामः** अस्मत्सङ्गेऽध्ययनयुक्तानामस्माकं च लोकन्यायेन सर्वे पुरुषार्थाः सिद्धा भवन्त्विति भवतः कामः स सत्य एव भवतीति भवदिच्छयैवास्माकं सर्वे पुरुषार्थाः सिद्धा इत्यर्थः। अतस्त्वया सह गुरुगृहवासः पुरुषार्थस्तत्साधनं च ॥४४॥

व्याख्यार्थ—हम लोगों ने कौनसा पुरुषार्थ है, जो सिद्ध न किया हो, किन्तु उनसे भी विशेष सिद्ध किया है, जैसा कि आपके साथ जिसका गुरु के पास निवास हुआ, यही विशेषता है, गुरुगृह में रहने के अनन्तर वे प्रसन्न हुए, तो उनके प्रसन्न होने पर कौनसा पुरुषार्थ है, जो सिद्ध नहीं होता है, अर्थात् जो पुरुषार्थ चाहे वह सिद्ध होता है, हमने तो गुरुकुल में सर्व पुरुषार्थ रूप आप से मिलाप कर लिया, अतः गुरुकुल में निवास हम लोगों का ही सफल हुवा, नहीं कि दूसरों का, उन उन मन्त्रों के देवताओं की तृप्ति भी प्रयोजक नहीं है जो उनकी खोज करे, क्योंकि आप ही देवों के देव हैं इसलिए हमको अन्य किसी की भी आवश्यकता नहीं है। गुरु के प्रसाद को भी हम नहीं ढूँढते हैं, कारण कि आप ही जगद्गुरु हैं और विशेष आप सत्य काम हैं, वे आप हमारे संग में वहाँ रहे। अध्ययन में लगे हुए हम लोगों का लोक न्याय से सर्व पुरुषार्थ सिद्ध होवे, यों आप से काम प्राप्त हो वह काम सत्य ही होता है। इस लिए भगवदिच्छा से ही हम लोगों के सर्व पुरुषार्थ सिद्ध ही हैं, अतः आपके साथ गुरुकुल में निवास ही पुरुषार्थ और उसका साधन भी है ॥४४॥

आभास—किंच यदुक्तमस्माकं सर्वेषां गुरुगृहवासं स्मरसीति तत्र स्वामिनस्तव वासः अनुकरणार्थमेव भवतीत्याह **यस्य छन्दोमयं ब्रह्मेति**।

आभासार्थ—आपने जो कहा कि, हमारा और अन्य सर्व का गुरु गृह में निवास तुम्हें स्मरण है ? जिसके उत्तर में ब्राह्मण सुदामा कहता है कि आप स्वामी का वहां निवास तो अनुकरण के लिए ही था, यह 'यस्य छन्दोमयं' श्लोक में कहता हैं—

श्लोक—**यस्य छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभोः।**
श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—जिनका वेद रूप देह है, जिस देह से सर्व प्रकार के श्रेय होते हैं, ऐसे स्वरूप वाले आपका, गुरु गृह में निवास, केवल अनुचित, अनुकरण मात्र है ॥४५॥

सुबोधिनी—वेदात्मकं **ब्रह्म** शब्दब्रह्मेति यं विदुः तत्तव **देहः** । यदध्ययनार्थं गुरुगृहवासोऽपेक्ष्यते । ननु कथं मम देहः जीवविशेष एव कश्चित्तत्राधिष्ठितो भवेदिति तत्राह **विभो**रिति । भवानेव तमधिष्ठातुं शक्तः देशकालपुरुषानन्त्येष्वधिष्ठितस्य तस्य फलदानं व्यापकाधिष्ठानव्यतिरेकेण न भवतीति तस्यैव फलसाधकत्वमाह **श्रेयसामावपन**मिति । श्रेयांस्यस्मिन्नासमन्ताद्युष्यन्त इति एतादृशदेहवतस्तव **गुरुषु वासोऽत्यन्तं विडम्वन**मनुचितानुकरणमित्यर्थः ।।४५।।

व्याख्यार्थ—जिसको वेदात्मक अर्थात् शब्दात्मक ब्रह्म कहते हैं वह आपका शरीर है, जिस वेद के अध्ययन के लिए गुरुगृह में रहने की आवश्यकता होती हैं, मेरी देह वैसी कैसे ? इस शरीर में तो कोई जीव विशेष ही अधिष्ठित है, इसके उत्तर में कहता है कि 'विभोः' आप सर्व व्यापक सर्व समर्थ हैं, अतः आप ही उसका शासन करने के लिए समर्थ हैं । देश काल पुरुष आदि अनन्तों में अधिष्ठित को फलदान करना, व्यापक अधिष्ठान के सिवाय नहीं हो सकता है, उसको ही फल का साधकत्व कहता है, 'श्रेयसां आवपनं' इस शरीर में ही श्रेय सर्वत्र बोए हुए हैं, ऐसे शरीर वाले आपका गुरुकुल में निवास अनुचित अनुकरण है ।।४५।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे एकत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥ ३ १॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७७वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३१वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल अवान्तर प्रकरण का तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

सुदामा चरित्र

राग धनाश्री

सुदामा सोचत पंथ चले ।
कैसें करि मिलि हैं मोहिं श्रीपति, भए तब सगुन भले ।।
पहुँच्यौ जाइ राजद्वारे पर, काहूँ नहिं अटकायौ ।
इत उत चितै धस्यौ मंदिर मैं, हरि कौ दरसन पायौ ।।
मन मैं अति आनंद कियौ हरि, बाल मीत पहिचान ।
धाए मिलन नगर पग आतुर, सूरज प्रभु भगवान ।।

सीस पगा न झगा तन पे प्रभु जाने कोउ आय बसो केहि ग्रामा ।
धोती फटी सी लटी डुपटी, अरु पाय उपानह की नहीं सामा ।।
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकसों वसुधा अभिरामा ।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा ।।
ऐसे बिहाल बिवाइनसों भये, कंटक जाल लगे पग जोये ।
हाय सखा ! दुःख पायो महा, अरु आए इते न किते दिन खोये ।।
देख सुदामा की दीन दसा, करुणा करिके करुणानिधि रोये ।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोये ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ८१वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ७८वां अध्याय
उत्तरार्ध ३२वां अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—४"

सुदामाजी को ऐश्वर्य की प्राप्ति

कारिका—**द्वात्रिंशे भगवानस्य पुरुषार्थतयोदितः ।**
स्वकर्तव्यं विदित्वैव कृतवानित्युदीर्यते ॥१॥

कारिकार्थ—श्रीमद्भागवत के उत्तरार्ध के ३२वें अध्याय में सुदामा ने भगवान् को पुरुषार्थपन से जाना है, अतः भगवान् ने भी अपना कर्त्तव्य जानकर ही इसको सम्पत्ति दी ।।१।।

कारिका—**मर्यादया प्रेरिता तु लक्ष्मीः स्थैर्यमिहाश्नुते ।**
अतोत्र भगवांस्तस्य पृथुकानप्यभक्षयत् ॥२॥

कारिकार्थ—मर्यादापूर्वक जो लक्ष्मी प्रेरित होकर प्राप्त होती है, वह स्थिर रहती है, उससे भोग की सिद्धि होती है, इसलिए ही भगवान् स्वयं तण्डुलों को आरोगते हैं ।।२।।

कारिका—**दानेपि तेजोहानिः स्यात् भार्यादत्तमुपायनम् ।**
तस्या एवं फलं भूयादिति जग्धुं समुद्यतः ॥३॥

कारिकार्थ—स्त्री ने जो भेंट दी थी, वह भेंट यदि सुदामा देवे तो उसके तेज की हानि हो जावे, अतः भगवान् ने स्वयं स्त्री की दी हुई भेंट ले ली और इसका फल भी स्त्री को ही मिलना चाहिए, यों विचार कर वे तण्डुल स्वयं आरोगने लगे ॥३॥

कारिका—**मुष्टिरेको जगत्तृप्त्यै वनवासे निरूपितः ।**
सर्वं फलं सर्वतृप्त्या परलोके तथापरः ॥४॥

कारिकार्थ—भगवान् एक मुष्टि आरोगें, तो सर्व जगत् की तृप्ति हो जाती है । यह आपने वनवास में पाण्डवों के यहाँ दुर्वासा के साथ आए हुए समग्र ऋषियों को एक पत्र खाकर तृप्त कर सिद्ध कर दिखाया है । दूसरी आरोगें, तो परलोक के फल की सिद्धि हो जावे ॥४॥

कारिका—**तृतीये देवतां दद्यादात्मानं च ततः परे ।**
एवं बुद्ध्या तया दत्तास्ते चेन्निर्विविशुर्हरिम् ॥५॥
चतुर्थांशः सिद्धिमेतु तस्या नाधिकमित्युत ।
लक्ष्मणायां प्रविष्टा श्रीः प्रतिबन्धं चकार ह ॥६॥

कारिकार्थ—तीसरी आरोगें, तो देवता उसके आधीन हो जाय, इससे विशेष आरोगें, तो हमको भी दे देवें । इस प्रकार प्रेमपूर्वक बुद्धि से दिए हुए सर्व तण्डुल यदि भगवान् के हृदय में जावें तो पूर्ण फल की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु भगवान् के उदर में चतुर्थांश ही गया, जिससे इतनी ही सिद्धि स्त्री को प्राप्त हुई, अधिक नहीं कारण कि लक्ष्मणा में प्रविष्टा लक्ष्मी ने रोक दिया ॥५-६॥

॥ इति श्री कारिका समाप्त ॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते मनःप्रीतिमुक्त्वा तदिष्टं पूरयित्वा तद्भार्येष्टं पूरयितुं पूर्वमुपसंहरन्नाह **स इत्थमिति ।**

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में सुदामा के मन की प्रसन्नता का वर्णन कर उसकी इच्छा की पूर्ति की । अब इस अध्याय में उसकी पत्नी की इच्छा पूर्ण करने के लिए पूर्व कथा का उपसंहार करते हुए श्रीशुकदेवजी 'स इत्थं' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**स ईथं द्विजमुख्येन सह संकथयन् हरिः ।**
सर्वभूतमनोभिज्ञः स्मयमान उवाच ह ॥१ ।

श्लोकार्थ—द्विजश्रेष्ठ सुदामा के साथ इस प्रकार वार्तालाप करते हुए सब के मन के भावों को जानने वाले वे हरि कुछ मुस्कराते हुए कहने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—जीवेन सह कथं संकथेत्याह **द्विजमुख्येनेति** । ब्रह्मभावाज्जीवोपि आवेशी भवतीति संकथनं न दोषायेत्यर्थः । किंच । **हरिः सः** सर्वपुरुषार्थरूपो भगवानेवेति । तस्य निश्चयात्सर्वभावेन चेद्भगवांस्तदधीनो न स्यात्तदा तस्य मनःपीडा न गच्छेदिति तथाकृतवानित्यर्थः । ततो भार्याहृदयं ज्ञात्वोवाचेत्याह **सर्वभूतमनोभिज्ञ** इति । हेतुत्वार्थं साधारण्येन निरूपयति **स्मयमानः** भार्यासंबन्धात् तेन सह परिहासं चिकीर्षुः । **हेत्याश्चर्ये** । न हि पूर्णो भगवान् अदत्तं स्वयं गृह्णातीति ब्राह्मणास्तु जानन्नपि लज्जया न दत्तवान् ॥१॥

व्याख्यार्थ – भगवान् हो के जीव से कैसे इस प्रकार वार्त्तालाप करने लगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए ही कहा है, कि वह सुदामा साधारण ब्राह्मण नहीं था किन्तु ब्राह्मणों में मुख्य ज्ञानी ब्राह्मण था, जिससे ब्रह्मभाव से वह जीव होते हुए भी आवेशी हो गया था, अर्थात्, उसमें ब्रह्म आवेश रूप से प्रविष्ट था अतः उससे वार्त्तालाप करने में कोई दोष नहीं है, और विशेष में वे हरि हैं जिससे सर्व पुरुषार्थरूप भगवान् ही हैं, जिससे दोष नहीं है । अनन्तर, सर्वभूतों के मन के भावों को पूर्णतया जानने वाले होनेसे, सुदामा की भार्या के हृदय की इच्छा को भी जानते थे, इसी कारण, साधारण रीति से, मुस्कराते हुए निरूपण करते हैं । भार्या के सम्बन्ध से उसके साथ परिहास करने की इच्छावाले थे, 'ह' यह पद आश्चर्य अर्थ में दिया है, भगवान् पूर्ण हैं अतः बिना दिए स्वयं लेते नहीं, इस बात को ब्राह्मण श्रेष्ट होने से सुदामा जानते थे, तो भी इतने थोड़े चाँवल, भेंट रूप में कैसे दूं यों लज्जा आने से दिए नहीं ॥१॥

श्लोक—**ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान् प्रहसन् प्रियम् ।**
प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन् खलु सतां गतिः ॥२॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों के हितकारी भगवान् कृष्ण हँसी करते हुए, प्रेम भरी दृष्टि से देखते हुए, सत्पुरुषों के रक्षक प्रिय मित्र ब्राह्मण को कहने लगे ॥२॥

सुबोधिनी—तथापि भगवान् **ब्रह्मण्यः** ब्राह्मणानां हितकर्ता । सोपि **ब्राह्मणः** । स्वयं च **कृष्णः** तदर्थं चावतीर्णः, अन्यथा भगवान् कथमागच्छेत् । **प्रहसन्निति** गोप्यं करोतीति । तं प्रति तथाकथने हेतुः **प्रियमिति** ॥२॥

व्याख्यार्थ तो भी, भगवान् तो ब्रह्मण्य हैं अर्थात् ब्राह्मणों के हितकारी हैं, वह (सुदामा) ब्राह्मण है, अतः उसका हित तो करना ही है आप (श्रीकृष्ण प्रकट ही इसके लिए (ब्राह्मणादि के हित करने के लिए) हुए हैं नहीं तो भगवान् भूमि पर कैसे पधारें ? अथवा पलङ्ग से उठकर उसको